श्रीरामः

झूठ-सच

श्रीसियारामशरण गुप्त

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

द्वितीयावृत्ति
२००१ वि०

मूल्य
२)

श्रीरासकिशोर गुप्त द्वारा
साहित्य प्रेस, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित ।

श्रीः

प्रारम्भिक

कई बरस पहले बन्धुवर श्रीबनारसीदासजी चतुर्वेदी ने एक वार मेरे विषय में कुछ ऐसी बात लिखी थी कि मैं कविता में अनादृत हुआ, इसलिए उधर से हटकर मैंने यह लिखा, वह लिखा, और और-कुछ लिखा; और अब मैं निबन्ध लिखने की सोच रहा हूँ।

इस बात में मैंने उनका निषेध समझा। उनका सकेत यह समझ में आया कि जो कुछ मैं कर चुका हूँ, वह कर चुका; कम से कम इस नये मार्ग में मुझे अपने को खतरे में न डालना चाहिए। इसमें उनका स्नेह तो था ही।

और आज मैं यह स्वीकार करता हूँ कि वैसा मैं कर नहीं सका। जो कुछ मुझसे बन पड़ा है, उसे एक साथ स्वीकार कर लेना उचित होगा। मेरी इच्छा एक नये घाट पर अवगाहन करने की थी। उस इच्छा को मैं रोक नहीं सका। मेरे जैसे जनों के लिए ही "निग्रहः किं करिष्यति" जैसी बात ठीक बैठती है। मैंने इस नये घाट पर

अवगाहन करने के लिए, निषेध होते हुए भी, चेष्टा की है। परन्तु जितने तीर्थयात्री होते हैं, सभी के सभी तीर्थ का फल-लाभ करते हों, ऐसा नहीं होता। इसलिए मैं भी फल-लाभ पाऊँगा ही, इसकी आशा मुझे नहीं है। मेरे लिए तो जैसे "मा फलेषु कदाचन" वाली आशा लगी हुई है!

फिर भी एक फल तो मिल ही जायगा, भले ही दूसरे जन उसे अफलता या असफलता कहे। उसके लिए मुझे तैयार रहना है। निबन्ध लिखने जाकर, जिसने ऐसा-वैसा न जानें क्या क्या लिख डाला है, उसके लिए यही एक उपाय है। यदि सचमुच ही मेरे निबन्ध, निबन्ध नहीं हैं, तो कम से कम यह तो किसी अंश तक निभ ही जायगा कि मैंने अपने आदरणीय बन्धु का निषेध अमान्य नहीं किया।

कुछ हो, आज के दिन विषाद लेकर उपस्थित न हूँगा। इस बात से वे भी प्रसन्न हुए विना न रहेंगे, जिनकी विरुद्धता लेकर चल पड़ा था। जीत तो उन्हींकी है! सफल नहीं हूँ, तो इसलिए नहीं हूँ कि मैंने ध्यान देने योग्य बात पर ध्यान नहीं दिया। और असफल नहीं हूँ, तो इसलिए नहीं हूँ कि इसमें प्रेरणा उन्हींकी थी। सब झूठ, झूठ नहीं होते; सब सच, सच नहीं होते; इसी तरह सब निषेध भी निषेध नहीं होते। कुछ निषेध ऐसे भी होते हैं, जिनमें अनुज्ञा छिपी होती है। इसलिए आज मैं विना किसी क्षमा-याचना के उपस्थित होने में हानि नहीं समझता।

और ऐसा हुआ ही क्या है! इतने अधिक समय में इतना थोड़ा लिखा है, तब क्या इतने के लिए भी मुझे छूट न रहेगी? यह जरूर

है कि लिखना अधिक ही चाहता था। अधिक इसीलिए नहीं लिख सका कि इधर शरीर ने बीमारी की अधिकाधिक छुट्टियाँ लेना शुरू कर दिया है। कई रचनाएँ इस संग्रह की ऐसी हैं, जिन्हें कष्ट की चरम सीमा में से निकाल लिया गया था। पर यह बात यहाँ कहने की नहीं है। इससे मेरे विरुद्धाचरण का अपराध और बढ़ जायगा।

प्रसंग-वश ही बीमारी की यह बात यहाँ आ गई है। बीमारी की बात कहकर पाठक को, निर्णायक को, मुलायम करके पक्ष में कर लेना वैध नहीं। परन्तु सच यह है कि यह संग्रह पाठक के लिए नहीं, बन्धु-जनों के लिए प्रस्तुत किया गया है। अपरचितों में भी वे बड़ी संख्या में मिल सकते हैं। बन्धु के लिए, सुहृद् के लिए, आत्मीय के लिए परिचय की शर्त नहीं होती। इसीसे इन रचनाओं में जहाँ तहाँ निजी बातें भी मिलेंगी। जिनके लिए वे हैं, आशा है, उनके द्वारा सहन कर ली जायँगीं।

चिरगाँव
माघ पूर्णिमा १९९६

सियारामशरण

सूची

झूठ-सच

वहस की बात

बहुत गम्भीर समस्या थी । एक सज्जन कह रहे थे,—यह घर पूर्व दिशा में है; दूसरे सज्जन का कहना था, ऐसा हो नहीं सकता। अपने गले के जोर से उस घर को उठाकर ठेठ पश्चिम मे रख देने की इच्छा उनकी थी। एक अँगरेज कवि के पूर्व और पश्चिम की तरह इन दोनों का यह दिक्-विपयय किसी एक दूसरे से मिलना ही न चाहता था। अपने मध्यकेन्द्र को बहुत पीछे छोड़कर बात गरमागरमी और तेजी से आगे बढ़ रही थी। ऐसी स्थिति में एक का मुक्का और दूसरे का सिर तो आपस में मिल सकता था, परन्तु उनके मत नहीं। वे दक्षिणी और उत्तरी ध्रुवों की अपेक्षा भी दूर होते जा रहे थे। ऐसे विकट प्रसंग में उस घर का प्राण-संकट टालकर एक तीसरे सज्जन ने बताया कि यह घर आपके यहाँ से पूर्व है और आपके यहाँ से पश्चिम। अतएव सही हैं तो आप दोनों और गलत हैं तो आप दोनों। परिणाम यह हुआ कि इस तरह न तो पूर्व को पश्चिम में जाना पड़ा और न पश्चिम को पूर्व मे; चरम परिपाक के विना ही वह बहस यहीं शान्त हो गई,—कम से कम ऊपर से तो हो ही गई।

डर मुझे यह है कि अपने पाठक को मैंने नाराज कर दिया। मैं झूठ बोला इसकी तो कोई बात नहीं। झूठ बोलना तक मुझे नहीं आया, इसकी शिकायत अवश्य की जायगी। बहस कभी बिना बात की बात पर चल पड़ती है, यह मान लिया जायगा। परन्तु क्या ऐसा भी कोई हो सकता है, जो पूर्व और पश्चिम जैसे स्वयं प्रकाशित विषय को लेकर मरने-मारने को तैयार हो—इस पर फिर एक नई बहस उठ खड़ी होगी। उठ खड़ी हो, मैं अपनी बात से पीछे हटना नहीं चाहता।

यह ठीक है कि पूर्व और पश्चिम का भेद सुस्पष्ट करने के लिए किसीने दिन मे ही सूर्य की यह मशाल जला रक्खी है। पर इसीके साथ उतना ही ठीक क्या यह नही है कि उसीने इस मशाल की पीठ पर अन्धकार भी प्रतिष्ठित कर रक्खा है? दिन हो तो उसके साथ रात है और रात हो तो उसके साथ दिन। उत्तर है तो दक्षिण भी होगा। इस तरह दो का यह उत्तर-प्रत्युत्तर, यह तर्क-वितर्क, अनादि काल से चला आता है। तब फिर पूर्व और पश्चिम के लिए पूर्वोक्त सज्जनो का इस प्रकार झगड़ पड़ना कुछ अनहोनी बात नही। देखा जाय तो हममे कदाचित् ही कोई निकले जो इस पूर्व और पश्चिम के झगड़े मे ठीक इसी प्रकार लिप्त न हो। यह दूसरी बात है कि अपनी भिन्न भिन्न बोलियों में इन्हे हम और कुछ कहते हों। मिट्टी हो, कंकड़ हो, पत्थर हो, कुछ क्यो न हो,—इसके विग्रह की प्राण-प्रतिष्ठा उसीमें कर दी जाती है। कैसे की

जाती है, यह बताने के लिए अनेक आचार्यों ने बड़े बड़े ग्रन्थ रच डाले हैं। इसकी शिक्षा के लिए हमारे विश्वविद्यालय भी कम सक्रिय नहीं। इस अचिर जीवन का केवल आधा ही लेकर अपने प्रमाणपत्र के साथ वे हमे छुट्टी दे देते हैं कि अब तुम किसी भी राजदरबार में जाकर पूर्व को पश्चिम घोषित कर सकते हो और पश्चिम को पूर्व। न्यायालयो में जितने मामले पहुँचते हैं, उनमें अधिकांश इन सम्मुख-विरोधी दो दिशाओं के विवाद के ही नये नये आदर्श अथवा साँचे हैं।

न्यायालय ही नहीं, हमारा यह महाभारत रात दिन सर्वत्र चला करता है। इसके लिए अठारह अक्षौहिणी की आवश्यकता नहीं पड़ती। एक और एक दो, बस इतनी ही संख्या पर्याप्त है। कोई दूसरा न हो तो अकेले अपने आप भी हम यह कसरत कर सकते है। परन्तु रूखी रोटी की तरह अकेले अकेले की यह कसरत हमारे मानसिक आहार में अनाहार से अधिक नहीं। कदाचित् इसी कारण काल कोठरी की सजा वर्तमान समय की एक बहुत बड़ी सजा है। तो हाँ, जहाँ हम दो एकत्र हुए, एक कहता है,—'यह बात ऐसी है;' दूसरा तुरन्त उत्तर देता है,—'नही, यह बात ऐसी हो नही सकती!' दूसरे का यह उत्तर इतना स्वाभाविक, अतः तर्क-संगत, है कि प्रसंग का कुछ जाने-समझे विना हम भी उसे अपना मत दे सकते है। भला बताइए, वैसा हो कैसे सकता है जब कि वैसा हो सकने की बात पहले ही कोई कह चुका हो!

यह तर्क या बहस प्रारम्भ हुई नहीं कि एक बड़ा जन-समूह तुरन्त हमारे आस-पास इकट्ठा हो जाता है। किसके पैर में कितनी तेजी है, इसके निर्णय का एक मात्र समय यही है। इसके आगे की बात शिष्ट पाठक को सह्न न होगी, इसीसे अस्पृश्य समझ कर यहीं छोड़ी जाती है।

परन्तु इस तर्क-प्रसंग को मेरे अस्पृश्य समझ लेने से इसका कुछ नही बिगड़ता। संसार के अधिकांश युद्धों का उद्गम इसीके भीतर मिलेगा। वे होते ही रहते है। वहाँ आरम्भ में एक कहता है—'ऐसा'—दूसरा तुरन्त उत्तर देता है—'ऐसा हर्गिज नहीं!' बस इसीके बाद सेना, सैनिक, सेनापति और उनकी तलवार, तोप और गोले। संसार के इतिहास का सबसे रोचक अध्याय यही है!

तो हाँ, जब किसी एक को अस्पृश्य कह कर छोड़ दिया गया है, तब किसी दूसरे को ब्राह्मण कहना ही पड़ेगा। किन्तु बहुत शुद्धाचारी और तपस्वी होने के कारण यह ब्राह्मण तर्क सबके लिए ग्राह्य नहीं जान पड़ता। बात करने भी बैठे और डरते भी रहे कि कहीं किसीको चोट न लग जाय तो भला यह भी कोई बात हुई! सच पूछो तो तर्क जन्म से ही क्षत्रिय है। इसका काम ही मारना, मरना और फिर फिर जी उठना है। इक्कीस इक्कीस बार इसे निर्वंश ही क्यों न कर दो, फिर भी जब देखो, तब इसका वही तेज। साहित्यिक ने व्यङ्ग्य और व्यञ्जना के आवरण में कोमल करके इसे वैश्य वर्ण में लाने का

यत्न किया है। परन्तु वहाँ भी इसका जन्मगत जातीय गुण देर तक छिपा नहीं रहता।

पर अब कुछ सावधानी की आवश्यकता है। नहीं तो यह आरोप किया जायगा कि लेखक को बहस में मुँह की खानी पड़ी है, इसीसे छिपे छिपे वह तर्क की निन्दा कर रहा है। इस पर मेरा कहना यह है कि जीभ राम का नाम लेने मे ही हार सकती है, बहस अथवा तर्क करने में नहीं।

वास्तव मे जीभ की महिमा है ऐसी ही। विधाता ने हमें आँख, कान, हाथ, पैर ये सब दो दो की संख्या में दिये हैं; तब प्रश्न उठता है, जीभ ही उसने हमें एक क्यो दी ? नाक भी उसने एक ही दी थी। जान पड़ता है, बाद में उसे इसमें अपनी भूल मालूम हुई। इसीसे इसके बीचों बीच उसने एक दीवार खड़ी करके एक को दो में बदल दिया है। चाहता तो वह जीभ के लिए भी किसी ऐसे ही संशोधन का प्रबन्ध कर सकता था। परन्तु उसने ऐसा किया नहीं। मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी पर भी यह प्रयोग करने की आवश्यकता उसने नहीं समझी। तब यह क्यों न माना जाय कि जीभ के एक रखने में उसका कुछ विशेष हेतु था ? इसे उसकी कोरी भूल समझने से काम न चलेगा।

निश्चय ही जीभ का दो होना ठीक न होता। इस समय साँप के द्विजिह्व होने की बात कह कर मैं अपना समर्थन नहीं करना चाहता। यह कह कर भी नहीं कि उस अवस्था में खाद्य

पदार्थ और भी दुर्लभ हो जाते। मै जो कहना चाहता हूँ, वह यह है कि जीभ के संख्या में दो होने पर तर्क अथवा बहस करने के लिए किसीको किसी अन्य की आवश्यकता न रहती। उस समय कोई भी हिमालय की निर्जन कन्दराओं में जाकर किसी दूसरे की सहायता के विना ही अपना काम चला लेता मनुष्य की एक जीभ कहती,—'मीठा'; दूसरी तुरन्त प्रत्युत्तर करती,—'नहीं, कडुआ!' इस प्रकार अपने आप मे ही आनन्द-रस के दोनों स्वाद पाकर मनुष्य में जिस अनपेक्षित स्वार्थपरता का उदय होता, उससे क्या हमारे इस बहुविचित्र संसार के असंख्य ही टुकड़े न हो जाते ? दूसर का हित करने के लिए उस समय न तो हमें किसी सभा में उपस्थित होने की आवश्यकता पड़ती और न किसी दूसरे का ग्रन्थ पढ़कर उसकी समालोचना लिखने की। न प्रजा के चीत्कार का अस्तित्व होता, न राजा की एकान्त काल कोठरी का। सचमुच ही यह बहुत बुरा होता। इसी सबके कारण तो हमारा कर्म-मुखरित संसार इतना प्रिय और मधुर है!

तर्क अथवा बहस ही वह वस्तु है, जो हमारे मन में, अनजाने ही सही, यह बोध उत्पन्न करती है कि हमें छोड़कर भी किसी और को होना चाहिए। यह और कोई ऐसा है, जिसके विना हमारा जीवन नीरस हो जाता। ऊपर से उस पर हम प्रहार ही क्यों न करें, भीतर से प्यार तो उसे करते ही है। मनुष्य मे वाणी ही उसका सबसे बड़ा वैभव है। आँख ? वह

हमसे अधिक गीध में है। कान घोड़े और गधे के भी हमसे बहुत बड़े हैं। कुत्ते की घ्राण-शक्ति की बराबरी तो हम कर ही नहीं सकते। दौड़ने की बात आती है, तब मृग का पशुत्व भूलकर, उसीकी काल्पनिक समता में गौरव का अनुभव करना पड़ता है। जो बात कहीं दूसरे मे नहीं मिलती, वह है हमारी वाणी। अतएव जब हम किसीकी बात सुनते है तो स्वभावतः हमे यह अनुभूति होती है कि यह अपने उसी बड़प्पन की घोषणा कर रहा है। उसका महत्व खण्डित करके अपना महत्व स्थापित कर देना ही बहस की मनोवृत्ति का कारण है। इसका काम है, महत्वाकांक्षा की वृद्धि करके हमें और भी बड़ा कर देना। बैलो में जब यह वृत्ति पैदा होती हैं तो वे सीग चला देने के सिवा किसी दूसरे ढंग की बहस नहीं करते। मनुष्य की जीभ बिना सींग के सींग तो चला ही लेती है, और भी उसके लिए बहुत-सी बातें आसान हैं। सच पूछो तो दूसरे प्राणियों को विधाता का जिह्वा-दान उसके बड़े से बड़े अपव्ययो में से एक है।

परन्तु अब और कुछ लिखने को जी नहीं करता। जीभ की स्तुति जीभ चला कर ही की जा सकती है, लेखनी चलाकर नहीं। इन बातों को काट कर कुछ कहने वाला कोई दूसरा होता, तब भी कुछ बात थी। यदि किसी दूसरे ने यह सब कहा होता तो वह कठिन काम मैं स्वयं स्वीकार कर लेता। पर अब तो बाहर जाकर ही जीभ की यह प्यास मिट सकगी। मैंने जिसे पूर्व कह दिया है, उसे पूर्व ही कहता जाऊँ, तब यह

असम्भव है कि उसे पश्चिम कहने वाला कोई न मिल सके। हम दो के बीच में भी कोई ऐसा आ पड़ा, जो मेरे पूर्व को पूर्व ही रहने दे और दूसरे के पश्चिम को पश्चिम, तो भी हानि नहीं है। चतुर माली द्वारा कुछ काट-छीलकर एक में बाँधी गई भिन्न भिन्न वृक्षों की दो शाखाएँ एकरस हो सकती हैं और हो जाती हैं। पर मेरे में मेरा फूल खिलेगा, दूसरे मे दूसरे का। इसमें अन्तर आना असम्भव है।

पौष '१९९१

एक शीर्षक

एक नवोदित कवि की कविता का नाम है—'उपेक्षिता सुनन्दा'। कवि महोदय मेरे मित्र हैं, उनकी समालोचना करना मैं पसन्द नहीं करता। क्योंकि कुछ न कुछ ऐसा होता है, जिसे हम अपने आपसे भी छिपाते हैं, मित्र से तो उसे छिपाना ही पड़ता है। यह नीति धर्मसंगत नहीं है। फिर भी इसके अनुसरण द्वारा कुछ न कुछ झूठ से हम अपने को बचा ही लेते हैं। इसके सिवा उस कविता की बुराई करने के लिए इस समय मेरे पास कुछ है भी नहीं। केवल उसका नाम इस समय मेरे सामने है। और यही इस समय मुझे कहना है कि वह मुझे कविता के योग्य नही जँचा।

सच यह है कि रचना के नामकरण में लेखक को कम कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। कभी कभी मूल रचना का काम इतना सरल होता है, जितना हलवाई की दूकान पर बैठकर मनचाहा भोजन। उस समय हमें जिस पदार्थ को इच्छा हुई, अनायास ही वह हमारे पास आ पहुँचता है। अनायास न मिलने वाली वस्तु की वारी आती है सबके अन्त मे। जेब टटोल कर उस समय हम देखते है कि इन सब व्यंजनो के ऊपर दुर्लभ कुछ हैं, तो यही धातु के बने हुए दो चार टुकड़े। जेब खाली करके व्यक्तित्व या साख के बल पर किसी तरह दूकानदार का मन भर दिया जा सकता है, परन्तु वे व्यंजन हमारे भीतर विद्रोह को आवाज उठाते हैं,—हम सन्तुष्ट नही है; हमारे हिसाब का खाता पूरा पूरा चुकता नहीं किया जा सका। रचना के ऊपर शीर्षक के एक दो शब्द रखते हुए लेखक को बहुधा इसी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। वह स्वयं अनुभव करता है कि उसने वस्तु के अपेक्षित मूल्य का आंशिक ही दिया है, सम्पूर्ण नहीं। परन्तु अपने मित्र से मुझे कुछ दूसरी शिकायत है। उनकी जेब खाली न थी। जो कुछ उनके पास था, उसे बचा रखने का लोभ भी उन्हें न था। उन्होने जेब में हाथ डाला और जो कुछ भी उन्हे मिला, वह सबका सब एक साथ उन्होंने दे डाला है। आवश्यक से अधिक जा रहा है, इसका ध्यान ही उन्हे न था। उनके इस अधिक को 'बख्शिश' समझा जाय? दूसरे की उदारता में दखल देने का

अधिकार हमें नहीं है। परन्तु उस कविता कामिनी को हम क्या करें? अपने न्यायोचित प्राप्य से न तो कण मात्र वह कम लेना चाहती है और न कण मात्र अधिक। वह ऐसी ही मानिनी है! इसीसे उसके शिरोदेश पर कवि महोदय का वह अधिक दान गौरव न होकर भार-रूप हो गया है।

साहित्य के दो रूप हैं,—गद्य और पद्य। एक जातीय होने पर भी इनकी प्रकृतियाँ नारी और पुरुष की भाँति एक दूसरे से नहीं मिलतीं। पद्य यदि साहित्य की वाणी है तो गद्य उसका कर्तृत्व। मेरे कवि मित्र ने अपनी कविता को जो नाम दिया है, उसमें उनकी वाणी छिप गई है और कर्तृत्व ही उनका अधिकता से फूट निकला है। उनके कवित्व की ओर देखते हुए यह मुझे अच्छा नहीं लगता। वे कवि हैं। कवि विधाता की असाधारण सृष्टि है। अथवा कहना यह चाहिए कि कवि सृष्टि न होकर स्रष्टा के रूप मे ही अपने आप प्रकट हुआ है। उसका गौरव उसीमें है; किसी वाह्य सज्जा की आवश्यकता उसे नहीं पड़ती। अतएव वही जब अपने हाथो अपने शिरोदेश पर गद्य का यह मुकुट रखने लगता है, तब मेरे मन में इससे उसकी कविता के लिए राज-सम्मान न होकर खेद ही होता है।

इसका आशय यह नही है कि गद्य मेरे निकट अस्पृश्य हो। इस युग मे हमारे चारो ओर लोहे की जो यह गड़गड़ाहट हो रही है, उसके बीच मे गद्य का पौरुष ही खड़ा रह सकता है। पद्य की कोमलता के लिए वहाँ गुंजाइश नहीं दिखाई देती।

पद्य में एक नियम-बद्ध गति होती है, किन्तु गद्य अपने स्वर और लय की सृष्टि स्वयं करता है। उसीकी इच्छा के अधीन उसीके 'सम' पर ताल देते हुए उसका संग देना कम कौशल का काम नहीं। कविता वसन्त ऋतु की हरियाली की भाँति अपने आप ही मनुष्य के हृदय में उठ खड़ी होती है। उसे वाह्य साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। गद्य के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं। वह ग्रीष्म ऋतु का वह खेत है, जिसकी हरियाली को मनुष्य अपने पौरुष का जल दे देकर अपने अधीन कर लेता है। एक प्रकृति है, दूसरा अभ्यास। इस 'मदायत्तं तु पौरुषम्' वाले अभ्यास का विरोध आज के इस युग में कोई कर ही नहीं सकता।

बात इतनी ही है कि गद्य के स्थान पर गद्य खिलता है और पद्य के स्थान पर पद्य। दोनों के क्षेत्र अलग अलग हैं। हाँ, एक ऐसा भी समय था, जब गद्य की शिशुता दूर नहीं हुई थी। उस समय पद्य के जिम्मे बहुत ऐसे काम थे, जो वास्तव में उसके नहीं हैं। उस समय उसे औषधो के नुस्खे याद रखने पड़ते थे, रोगी के सिरहाने बैठ कर,—'यह न करो, वह न करो' का उपदेश करना पड़ता था। परन्तु अब वह बात नहीं है। वयस्क होकर गद्य ने अपना काम सँभाल लिया है। अब उसे अपनी मर्यादा का बोध है। मेरे कवि मित्र को इसका ध्यान रखना था। उनके लिए यह उचित न था कि वे गद्य को कविता के शीर्षासन पर प्रतिष्ठित कर देते।

आज कल बहुत-सी कविताएँ विना नाम या विना शीर्षक की भी दिखाई देती है। गद्य की परुषता से उन्हें बचने के लिए ही ऐसा किया जाता है। परन्तु मेरे मित्र की स्थिति कुछ भिन्न थी और इसीसे वह इस मार्ग पर नही चल सके। कवि का कवित्व के साथ दो तरह का सम्पर्क होता है। कहीं चलते-जाते हमें कुछ व्यक्तियों से मिलने का अवसर मिला, उनसे बातचीत हुई, परस्पर एक दूसरे से प्रभावित हुए, थोड़े में ही हम एक दूसरे के अन्तस मे पहुँच गये, परन्तु हम यह नहीं जानने पाते कि वे हैं कौन! वे छोटी कविताएँ, जिनका नामकरण नहीं होता, कवि की हृदय भूमि में इसी प्रकार उपस्थित होती हैं। नाम और पते के विना ही वे अपना काम कर जाती हैं। कवि का कविता के साथ दूसरे प्रकार का परिचय या सम्पर्क दीर्घ-कालीन है। विना नाम के यहाँ काम नहीं चलता। 'उपेक्षिता सुनन्दा' के कवि का अपनी उस कविता के साथ यही सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध घर का अथवा आत्मीयता का ही कहा जा सकता है, बाहर चलते-जाते मार्ग का अथवा किसी सभा-समाज का नहीं। इसलिए अपनी कविता का नामकरण किये विना मेरे मित्र का काम चलना सम्भव न था। उन्होंने उसका नामकरण किया भी; परन्तु खेद यह है कि वह उसके रूप को, उसकी आत्मा को, उस समय अपने मन से हटा चुके थे।

जिस समय यह सब मैं कह रहा हूँ, उस समय कविता की एक अन्य विशिष्टता भी मेरे ध्यान में है। कविता का

निवास हृदय के भीतर है। उसे बहुत बोलने की आवश्यकता नहीं पड़ती। थोड़े में ही वह अपना काम चला लेती है। कभी कभी तो विना कुछ कहे ही वह सब कुछ कह जाती है। जिस तरह वह अपनी एक मीठी हँसी के भीतर आनन्द का उदात्त संगीत मुखरित कर सकती है, उसी तरह उसने अपने एक बूँद आँसू में शोक के समुद्र का हाहाकार भी उठाकर भर लिया है। अपने प्रियजन पर उसे पूरा विश्वास है। वह जानती है, हम दो में गलत-फहमी न होगी। इसीसे उसके लिए 'प्रसन्न गंभीरपदा सरस्वती' बने रहने में वह कोई हानि नही समझती। परन्तु गद्य की बात दूसरी है। हृदय के ऊपर उसे बहुत प्रत्यय नहीं, इसीसे उसने बुद्धि का आश्रय लिया है। वह दुनियादार है, किसी पर एकाएक विश्वास कर बैठना उसके स्वभाव में नहीं आया। इसी कारण जब वह कुछ कहने बैठता है, तो हृदय के भीतर से श्रोता के संबंध में अपना सन्देह किसी तरह दूर नहीं कर सकता। उस समय उसके तर्क-वितर्क और उत्तर-प्रत्युत्तर की लड़ी बढ़ती ही जाती है। कदाचित् उसे अपने आप पर भी पूरा विश्वास नहीं है। उसे भय रहता है कि किसी संधि के बीच घुसकर उसका श्रोता कहीं से उसे पकड़ न ले। फलतः उसकी भाषा कानूनी भाषा बन जाती है। अपनी उस कानूनी भाषा में भी जैसे वह अपने को पूर्ण रूप से व्यक्त नहीं कर पाता। इसीलिए उसे स्वयं अपनी टीका और उसके साथ अपने ही जैसे एक परिशिष्ट की सहायता भी

आवश्यक हो उठती है। पक्के मुकदमेवाज की भाँति वह अपने घर के भीतर भी अपने को अदालत की सीमा से घिरा हुआ अनुभव करता है। किसी नारी का नारीत्व और उसके आँसू देखकर ही वह द्रवित नहीं हो जाता। यह यहाँ क्यों आई; यह रो क्यो रही है ; यह वही है, दूसरी और कोई तो नहीं; आदि ऐसे ही अनेक प्रश्नों के बाद अन्त में वह कह सकता है—'उपेक्षिता सुनन्दा'। कविता को यह सब कुछ नहीं करना पड़ता। यह 'सुनन्दा' है, केवल इतना ही कहकर वह उसके प्रति किये गये अन्याय और तिरस्कार का परिहार बात-की-बात में कर देती है। इसकी उपेक्षा सबने की है, और मै इसका समादर कर रही हूँ, इस बात पर विज्ञापनी विशेषणो के साथ ध्यान खींचकर लोक में बड़े होने की आकांक्षा उसे नहीं। यही तो उसका बड़प्पन है !

अपनी कविता का नामकरण करते समय मेरे मित्र कवि यह भूल गये है कि वह कवि हैं, व्याख्याता या टीकाकार नहीं। व्याख्या या टीका बहुत अच्छी चीज है, उसके बिना मुझ जैसों का काम ही रुक जाता है। फिर भी यह देखना कोई पसंद न करेगा कि कालिदास कालिदास न होकर मल्लिनाथ होते। आलोच्य प्रसंग में कुछ ऐसी ही बात हो गई है। यहाँ हमारे कालिदास ने अपने 'रघुवंश' का नाम 'रघुवंश' न रखकर 'उदात्त रघुवंश' अथवा ऐसा ही और कुछ रख दिया है। इतनी अद्भुत और अनुपम रचना करके भी उन्हें यह विश्वास

नहीं हो सका कि हमारे पाठक और श्रोता रघुवंश की उदात्तता अपने आप ही समझ जायँगे ! यह बात उनके अनुरूप तो है ही नहीं, हम सबके लिए भी खेद-जनक है ।

पौष १९९१

ऋणी

कल दिन भर चिट्ठी-पत्री के काम में बहुत व्यस्त रहना पड़ा है । फिर भी कुछ पत्र ऐसे रह गये है, जिनके उत्तर का ऋण चुकाया नहीं जा सका ।

इनमें से एक में कोई सज्जन लिखते हैं कि दस बरस पहले ट्रेन में उन्होने मुझे दर्शन दिये थे, इसलिए उनके सुपुत्र के विवाह में मुझे पहुँचना ही चाहिए । यदि किसी कारण-वश यह सम्भव न हो (सम्भवतः इस विषय में वे पूर्णतया निश्चिन्त है !) तो कम से कम मुझे उस विवाह का निमन्त्रण पत्र तो अवश्य छन्दोबद्ध कर देना चाहिए । दूसरे एक सज्जन को मेरी रचना अत्यन्त प्रिय है । और जब वे यह बात टाईप न करा कर अपने ही श्री-करो से लिख रहे हैं, तब उनकी बात में अविश्वास का कारण नही दिखाई देता । उनके लिए कौन-सी नई रचना रच कर मैं उन्हें अपना प्रिय पाठक बनाये रहूँ, यह समस्या अब तक मेरे द्वारा सुलझाई नहीं जा सकी । विशेष कर

इसलिए और भी कि ब्लाक भेज देने पर वे मेरा चित्र भी छापने की कृपा करेंगे। तीसरे एक सज्जन मेरा एक गुप्त भेद जान गये हैं। उन्हें पता चला है कि गांधी के सनातन-विरोधी उपद्रवों से जनता को बचा लेना ही मेरे जीवन का एक मात्र ध्येय है—क्योकि मैं एक धार्मिक पुरुष हूँ! अतएव उनके लिए भी कुछ न कुछ लिखकर मुझे अपनी धार्मिकता की रक्षा कर लेनी है। एक नहीं, इस तरह की और भी बहुत सी आज्ञाएँ अभी हैं।

आज नही कल, कल नहीं परसों,—इस तरह इस बात के कितने ही संस्करण हो चुके हैं। अब और आगे बढ़ने का साहस नहीं होता। दुर्भाग्य-वश न तो आज जाड़ा ही बहुत है और न लिखने के स्थान पर कागज, कलम और स्याही के कोरम में ही किसी तरह की कमी। फलतः लाचार होकर आज मुझे बैठ जाना पड़ा है।

लिखने के लिए बैठ तो गया हूँ, पर लिखूँ तो क्या लिखूँ? हाथ में लिये लिये दवाती कलम का निब अपने सिरे पर सूख गया है। जिस अधमर्ण की जेब खाली हो और अविश्वासी उत्तमर्ण का तगादा सिर पर, उसके लिए एक ही उपाय है। ब्याज को रकम मूल मे जोड़ कर नया रुक्का उसे लिख देना चाहिए। जिन्हें इस तरह सन्तुष्ट कर सकता था, कल उनसे निबट चुका हूँ। आज ऐसे ही लोगो को चिन्ता है, जिनकी ओर से कड़ाई हो सकती है। उन्हीं लोगो को किसी तरह आज

सन्तुष्ट कर लेना है।

कौन लेखक नहीं चाहता कि वह नित्य नई रचनाएँ रचता रहे, उसके प्रेमी पाठकों की वृद्धि निरन्तर हो, अधिक से अधिक जनों की ओर से यह दावा उस पर किया जाय कि उनकी माँग उसे पूरी करनी चाहिए। उसे सभीको सन्तुष्ट करना पड़ेगा, तभी उसकी सफलता है। परन्तु प्रश्न इस समय कुछ दूसरा है। क्या करना चाहिए उसे, जब प्रयत्न करके भी वह अपने कृपालुजनों का सन्तोष-साधन करने नहीं पाता ?

वर्तमान लेखक ने अपना रास्ता खोज लिया है। जब वह दूसरो को सन्तोप देने में असमर्थ है, तब आज वह अपने आपको ही सन्तुष्ट करना चाहेगा। कितने ही बन्धुओं के अनुग्रह का ऋण उस पर है। उसे चुकाने के लिए आज वह नहीं बैठेगा। ऋणी होने का ही आनन्द मनायगा। ऋणी होने के गौरव को ही अपने आप वहन करेगा।

ऋण में आनन्द, ऋण में गौरव! हाँ, ऋण मे वह है। कुछ ही पहले मेरे लिए भी यह बात आश्चर्य की होती। परन्तु गूढ़ तत्व इसी तरह एकाएक प्रकट होते है ! वे सूर्य की भाँति पंचांग के किसी नियत समय पर नहीं आते। उनकी प्रकृति किसी स्वतंत्र स्वामी की भाँति अचानक प्रकट होने की है। और इसीसे अचानक ही ऋण की महत्ता मुझे भी मालूम हो गई है।

कौन चाहता है कि वह दूसरे का ऋणी न हो? वैसा व्यक्ति अरण्य का तपस्वी हो सकता है, हमारे संसार का

नागरिक नही। विधाता से हमें जो मिलता है, वह है हमारा पैत्रिक अधिकार; दूसरो से हमें जो मिलता है, वह है हमारा अर्जन। इस ऋण के अर्जन से हो हमारा महत्व तौला जाता है। ऋण दे सकने वाले का भी महत्व है और ले सकने वाले का भी। पूछा जाय, दोनो मे बड़ा कौन,—तो इस समय मै ऋण लेने वाले का ही पक्ष लूँगा। ऋण देने वाला महाजन हो सकता है, राजा अथवा रईस नही। ऋण देने वाले ने ऋण दिया नहीं कि उसका काम पूरा। इसके वाद तो कभी कभी उसे क्षुद्रता तक उतर आना पड़ता है। परन्तु ऋण लेने वाले की वात कुछ और है। उसे ऋण का वोझ निरन्तर शिरोधार्य किये विना दूसरी गति नहीं। वह प्रति क्षण भारी होता जाता है, फिर भी वह उसे छोड़ नहीं सकता। यह इसलिए कि मनुष्य महत्वाकांक्षी है, केवल सुखाकांक्षी नहीं। यह वोझ शरीर पर सभ्योचित वस्त्रो की भाँति उसकी सभ्यता का द्योतक है। इतिहास मे एक ऐसे व्यक्ति का उल्लेख है, जिसे थोड़ी देर के लिए वादशाहत मिली थी। उस वीच में उसने चमड़े का सिक्का चलाया। इतने ही मे उसका स्मरण वार वार किया जाता है। पर आज कल के वैंको की वात क्यो भुलाई जाय? विना वादशाही के वे कागज का सिक्का चलाते है। यह इसीलिए कि अपरिमित ऋण लेने की शक्ति उनमे है।

एक वहुत वडे दार्शनिक ने भी "ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्" कह कर इसकी महिमा वढाई है। खेद इतना ही कि उसने अपने वाक्य का पूर्वार्द्ध जितना सुन्दर वनाया है, उतना उत्तरार्द्ध नही।

उसमें न्यूनपद दोष है। अकेला अकेला घी कौन पियेगा ?— कम से कम मैं नहीं पी सकता। पीने बैठ भी जाऊँ तो "भस्मीभूतस्य देहस्य" वाली बात समय से बहुत पहले सामने आ पड़ेगी। खैर कोई बात नहीं। मुझ जैसे जन 'गुन गहहिं पय, परिहर वारि-विकार !'

ऋण के अलंकार से दूसरों को अलंकृत करने के लिए धार्मिक व्यक्तियों ने जगह जगह सुन्दर आयोजन किये हैं। जिससे न जान न पहचान, वह भी कहीं जाय तो विना कुछ दिये उसे सेठ साहब की धर्मशाला में ठहरना ही होगा। उनके अन्नसत्र में आप भोजन न करें, परन्तु उनके खुदवाये हुए कुएँ के मिष्ट जल से आप जंगल में जाते हुए भी नहीं बच सकते। अतिथि का यथोचित आदर करना चाहिये—शास्त्र की इस आज्ञा का आशय यह है कि किसी तरह उसे अपना ऋणी कर लो। अतिथि चलता-फिरता ऐसा सेविंग बैंक है, जो लोक क्या परलोक में भी अपना खाता बन्द करके हमें वंचित नहीं करेगा। ब्राह्मण अतिथि की विश्वसनीयता और अधिक है। उसके सम्बन्ध में श्रद्धालुजनों से एक चौंका देने वाली बात सुनी है। उसे इस तरह खिलाना चाहिए कि खाते खाते उसके उदर की दशा वैसी हो उठे, जैसी साइकिल के उस ट्यूब की होती है, जिसमें उसकी शक्ति से अधिक हवा भर दी गई हो। श्रीबनारसीदास चतुर्वेदी से पूछा जा सकता है, उन्होंने यह बात अपने एक घनिष्ट बन्धु के यहाँ सुनी थी। सुनकर वे दहशत में पड़ गये थे। परिणाम इसका यह हुआ कि वे अपने

दूसरे मित्रों को बहकाते हैं, मेरे उन मित्र के यहाँ मत जाओ। खतरा है!

मै भी ऋण की महत्ता से प्रभावित हूँ। निश्चित रूप से मै अनुभव करता हूँ कि ऊपर से नीचे तक मेरे ऊपर असंख्य ऋणों का बोझ है। ज्ञानतः तो मैंने बहुत कुछ लिया ही है, अज्ञानतः भी मैंने कुछ कम नहीं पाया। असमर्थ होते हुए भी इन समस्त ऋणों का शोध मुझे करना पड़ेगा,—कम से कम प्रयत्न तो करना ही पड़ेगा। फिर भी आज मै कुछ नही करना चाहता। आज मै अपने में ऋण मात्र के गौरव की अनुभूति करता हूँ। मेरे गौरव का यह छोटा-सा ढेर असंख्य ऋणों के तिल तिल की ही समष्टि है। मैं नही जानता, मेरे किन किन गुरुजनो की वाणी मेरे एक एक वाक्य में प्रतिध्वनित हो रही है। मुझे पता नहीं, मेरी एक एक पद-भूमि मेरे किन किन गुरु जनो के पसीने से सिंचकर इतनी सरस है। मानता हूँ, किसी किसीने मेरे स्वच्छन्द पथ पर कुछ झाड-झंखाड और कंकड़-पत्थर भी फैलाये हैं। पर मैं इसके साथ यह कैसे न कहूँ कि मेरी गति के इस थोड़े-से बाँकपन का कुछ न कुछ श्रेय उनको भी मिलना चाहिए।

कई अनुत्तरित पत्र इस समय मेरे सामने हैं। इनमें से कुछ के प्रति यथोचित आदर प्रकट न कर सकने के लिए मुझे खेद है। आज मै इन सबके अनुग्रह का ऋण स्वीकार करता हूँ। ऋण के इस गौरव का स्वाद कुछ और ले लूँ, सबके लिए आज

यही मेरा उत्तर है। मैं ऋणी हूँ, पर दिवालिया नहीं। ऐसा हो न जाऊँ, अन्ततः प्रयत्न मेरा यही है।

पौष १९९१

मनुष्य की आयु दो सौ वर्ष

समाचार पत्र ने हाल मे ही एक बड़ा रोचक समाचार दिया है। युद्ध, हत्या, अथवा मार काट के समाचारों की भाँति न तो वह बहुत बड़े अक्षरों में ही प्रकाशित हुआ है और न अधिक महत्व की जगह ही पत्रकार ने उसे दी है, फिर भी यथेष्ट रूप में उसने मेरा ध्यान आकर्षित किया है।

एक विदेशी डाक्टर ने कहा है कि बन्दर की कुछ ग्रन्थियाँ अपने शरीर मे लगाकर मनुष्य अब पूरे दो सौ बरस जीवित रह सकेगा। इस तरह अब मनुष्य के शरीर में वयोवृद्धता को लगभग डेढ़ सौ बरस उम्मेदवारी में बिताने होंगे। इस तरुण-तपस्या के बाद ही उसे अपना दुर्लभ पद वहाँ मिल सकेगा।

वयोवृद्धता का हम सदा से सम्मान करते है। संसार की ऊँची-नीची भूमि पर वह बहुत चल चुकी होती है। उसे पता रहता है कि कहाँ क्या है, और कहाँ क्या नहीं। उसीका अनुभव है कि हम उन नीरस क्षेत्रो में फिर फिर पहुँच जाने से

बच जाते है, जो बार बार रोद डाले गये हैं। यही नहीं, अपने आविष्कृत तीर्थों का पूर्वाभास भी हमें उसीसे मिलता है। इस सबके लिए हमारे मन मे उसके प्रति सम्मान है। सम्मान ही है। चाहते हम यही हैं कि उससे दूर रहे। अर्थात् उसके प्रति आदर तो है, प्रेम नहीं। उसकी पाठशाला में हम बहुत थोड़ा बैठना चाहते हैं, बाहर की छुट्टी ही हमें अधिक प्रिय है। अतएव वह जो हमसे दूर जा रही है, इससे किसीको ठेस पहुँचेगी, ऐसा नही जान पड़ता।

संसार की रंगशाला में हम उतरते किसलिए है? यौवन का आनन्द मनाने के लिए। जीवन का सार वही है। शिशुता, बाल्यकाल और किशोरावस्था उसीकी तैयारी का समय है। इसीलिए उल्लासपूर्ण ये भी है। परन्तु वृद्धावस्था? उस समय हमारी रङ्गशाला के दिये बुझ जाते हैं। चारो ओर हमें अँधेरा ही अँधेरा दिखाई देता है। हमारे मन और शरीर मे अवसाद की सीमा नहीं रहती। जिस राजवेश में हमने अपने दर्शकों का मन आनन्द और विस्मय से भर दिया था, वह उतार कर एक ओर डाल देने की वस्तु हो जाती है। सचमुच यौवन ही हमारे जीवन का ध्येय है। पर इस यौवन में एक दोष भी बहुत बड़ा है। यह आता है एक स्वप्न की तरह। वह आया था, इस बात का पता हमें तब लगता है, जब हाथ में उसके फिर आ सकने की सम्भावना नहीं रहती। ऊपर से उसकी गति बसन्त-पवन-सी मन्थर जान पड़ती है, किन्तु

वास्तव में उसका वेग प्रचण्ड आँधी से कम नहीं होता। आया और वह गया! आँख खोलते-खोलते बिजली की चकाचौंध मचाकर वह अदृश्य हो जाता है। बिजली, फिर भी, मनुष्य के कमरे में एक छोटे बटन के भीतर बन्द की जा चुकी थी। इस यौवन के ऊपर ही हमारा वश न था। आज के अश्विनीकुमारों के कितने ही च्यवनप्राश उसे स्थिर रखने मे असमर्थ थे। ऐसे में एक डाक्टर, वह भी विदेशी, जब यह कहता है कि लगभग तरुण ही तरुण रह कर मनुष्य पूरे दो सौ बरस जीवित रहेगा, तब हमे प्रसन्नता हो तो ठीक ही है।

मै चाहता हूँ, इस प्रसन्नता की कुछ जाँच-पड़ताल कर लूँ।

बुढापे से हम डरते हैं, यह हमे स्वीकार करना पड़ेगा। यह अवस्था हमारी मृत्यु की पूर्व-सूचना है। यौवन में भी हमें मृत्यु का आलिङ्गन करना पड़ता है। परन्तु यह नियम नही है; उसका व्यतिक्रम मात्र है। इस व्यतिक्रम ने मृत्यु के मूर्त्तरूप इस बुढ़ापे से हमें और भी भयभीत कर रक्खा है। यथार्थ में यह डर बुढ़ापे का नहीं, मृत्यु का ही है। हमें पता है कि हम मर्त्य हैं। इसी कारण जिस तरह डाक्टर प्रायः रोग से चौकन्ना रहता है और वकील प्रायः कानून से, उसी तरह हम भी मृत्यु से डरते रहते हैं।

अपने वीरो अथवा महावीरों का असम्मान करने की इच्छा मेरी नही है। उनके भीतर प्राण ही प्राण होता है। इसीसे उसके मोह की आवश्यकता उन्हें नहीं होती। निस्सन्देह

प्राण की मिट्टी से ही ऊपर से नीचे तक उनका निर्म्माण हुआ है। इस मिट्टी को लोभ अथवा भय के ताले के अन्दर छिपा रखने का स्थान उनके पास कहाँ ? मैं अपने जैसे ही सामान्य जनों की चर्चा कर रहा था। हमारे पास प्राण की पूँजी थोड़ी है,—बहुत थोड़ी। खुली हाट में क्रय-विक्रय के लिए रखकर उसका वाणिज्य हम नहीं कर सकते। उसे छिपा कर हमने बहुत नीचे गाड़ रक्खा है। उखाड़ने वाले गड़ा हुआ धन भी सूँघ कर उखाड़ ले जाते है, यह हमने सोचा तक नहीं। चोर से अपना धन बचाने के लिए हम निर्धन बनकर बैठ गये हैं ! हमारा मृत्यु-भय इसी कोटि में आता है। अपने वीरो और महावीरो के प्रति हममे आदर, प्रशंसा और आश्चर्य का जो भाव है, उसके नीचे की तह हम देख सकें तो हमे वहाँ क्या दिखाई दे ?—यही, इस मर जाने का भय। जब हम देखते हैं कि हमारे जैसे ही हाथ-पैर और आँख-कान रखने वाला एक व्यक्ति निर्भयता पूर्वक हिंस्र पशुओं के बीच मे से निकल गया है; ऊँची-ऊँची, बर्फीली चोटियों के आगे उसने अपना सिर नीचा नहीं किया; समुद्र उसके मार्ग का विघ्न नहीं हो सका; चमचमाती हुई तलवारें और आग उगलती हुई तोपें उसके लिए देख समझ कर आगे बढ़ने का कारण नहीं बन सकी;—तभी उस भाग्यशाली को हमारे आदर, प्रशंसा और आश्चर्य की प्राप्ति होती है। मृत्यु से हम डरते है, तभी न किसीके द्वारा उसे इस प्रकार पद-दलित होते हुए देख-सुनकर हमे इतना सुख मिलता है ?

विज्ञान ने इधर थोड़े समय के भीतर न जानें कितने चमत्कार हमारे सामने उपस्थित किये हैं। उसकी शक्ति इतनी अमोघ है कि अब उस पर आश्चर्य भी नहीं किया जा सकता! क्या उसके लिए मृत्यु अजेय होगी ?' कहने का साहस नही होता। पर एक बात तो आज दिखाई पड़ती हो है। विज्ञान ने अपनी प्रयोगशाला मे रत्न पैदा किये हैं। इससे स्वयं उसकी प्रतिष्ठा तो बढ़ी है, किन्तु रत्नो का भी गौरव अथवा मूल्य बढ़ा है, यह दिखाई नही देता। विज्ञान ने मनुष्य को आसमान मे उड़ाया है, समुद्र के गर्भ में घूमने-फिरने की शक्ति दी है, परन्तु इसका परिणाम ?— वह कुछ बहुत उत्साह-वर्द्धक नहीं। विज्ञान की कृपा से हम नरदेहधारी, कम से कम आज के दिन तो, जलचर, नभचर और पशु के निकट अधिक हैं।'हम मानते हैं, एक दिशा मे उसने हमारा मृत्यु-भय भी दूर किया है। कितना उपद्रव, कितना उत्पात, कितनी संहार-क्रीड़ा आज हमे देखनी पड़ती है, इसका लेखा लगाने कौन जाय ? यह सब देखकर न तो हमारा हृदय कॉपता है और न हमे दया ही आती है। आती भी है तो किसी टकसाल में ढली कुछ चीजो की भॉति बनावटी और काम चलाऊ। ग्रामोफोन की चूड़ी की तरह क्षण भर रो-गाकर हमारी करुणा चुप हो जाती है। उसमे हृदय का स्पन्दन नहीं होता। विज्ञान हमें ऐसा ही यौवन तो नहीं देना चाहता ? नकल से भी असल की भॉति हमारी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। अकारण ही असल के मोह में पड़ना ठीक न

होगा। और फिर यह कैसे कहूँ कि विज्ञान ने असत् का ही उद्‌घाटन किया है। उसके उपकारो का, उसके गुणो का, ऋण भी हमारे ऊपर अनन्त है। वह तो है ही। जो सत्य है, उसे असत्य कहने का पाप नहीं करूँगा। किन्तु इस समय तो मै हाट करने निकला हूँ। पूरा दाम चुकाकर जो वस्तु अपनाऊँगा, उसके दोष ही दोष देखना न तो अधर्म होगा और न मूर्खता ही। असल बात यह है कि ऐसे समय जो जितना दोषान्वेषी हो सकता हो, उसके ठगे जाने की सम्भावना उतनी ही कम है।

हम देखते हैं, नई नई खोजो के कारण आज हमारे खेतों मे पहले से अधिक अन्न है। जिसे छिलका समझकर हमने फेक दिया था, आज उसमें से भी रस निकाल लिया गया है। जहाँ अपने को सिकोड़कर हम पैदल भी नहीं चल सकते थे, वहाँ हमारे रथ के लिए आज पक्की से भी अधिक लोहे की सड़क बिछ गई है। यह सब कुछ हमने देखा है, सुना है और समझा है। फिर भी यह कैसे कह दिया जाय कि सब कुछ यही है, इसके अतिरिक्त और कुछ हमने नहीं देखा, नहीं सुना और नहीं समझा। खेतो में इतना अन्न है, फिर भी करोड़ो प्राणी आज भी भूखों मर रहे है। अपने नये हल की नुकीली नोक पृथ्वी के अन्तस्तल तक चुभोकर हमने जितना अन्न अधिकता से अदा किया था, वह सब हमे वहीं का वहीं जला देना पड़ा है। वह इतना सुलभ हो गया था कि खेत से उठ कर भूखे के पेट तक पहुँने मे उसका मूल्य कुछ न रहता! रस की

ईख को यन्त्र के दाँतुए से पेर कर हमने पानी के परिमाण में प्रचुर रस निकाला है। इससे उसके रसत्व का लोप तो हुआ ही है, पानी भी वह नहीं रह सका। इस सुलभता का लोभ किसलिए? हमारे पैर हैं, इसलिए संसार में दुर्गमता की भी आवश्यकता है। उस दुर्गमता को पैर हिलाये विना, हम किसी की गोद में बैठकर पार कर लें, इससे बढ़कर हमारे पैरो का अपमान क्या होगा? यही बात यौवन के विषय मे कही जा सकती है। हमारे अपने आप में से जिसकी उत्पत्ति न हो, जो स्वभावतया हममें रक्षित न रह सके, उसके लिए हम गर्व भी नहीं कर सकते। विज्ञान द्वारा दी गई दूसरी बहुलताओं के जैसा ही वह सस्ता हो उठेगा।

आवश्यकता क्या है कि हम बन्दर की ग्रन्थियों की थेगरी अपने जीवन मे लगाने के लिए उत्सुक हो। जितने जीवन की आवश्यकता थी, वह हमारे पास है। मूल वेतन के न्याय्य प्राप्य से ही काम चलाना ठीक होगा। रिश्वत अथवा उत्पीड़न की ऊपरी आमदनी से किसी की पदमर्यादा नहीं बढ़ती। इसके अतिरिक्त एक बात और है। हमारा काम सँभालने के लिए हमारे पीछे ही नैसर्गिक तरुण बड़ी भारी संख्या में खड़े हो और फितरत लड़ाकर हम अपनी जगह खाली ही न करना चाहें, तो यह अन्याय होगा। जब तक संसार में तारुण्य की नई खेप नहीं आती, तभी तक हमारे तारुण्य की आवश्यकता है। वाह्य उपायो से हमारा जीवन बढ़

भले ही जाय, किन्तु अभी तक हमे ऐसा हथौड़ा नहीं मिल सका है, जिससे ठोक-पीट कर हम अपनी इस पृथ्वी को और अधिक बड़ी कर लें। यह सच है कि हमारा क्षेत्र आकाश तक बढ़ गया है। फिर भी हम सदा के लिए नभोचारी नहीं रह सकते। अपने वायुयान से नीचे उतर कर इसी मिट्टी की धरती पर ही हमें सुख की साँस नसीब होगी।

हमारा जीवन निरन्तर प्रवाहशील है। हम जानते हैं, इसी कारण वह इतना निर्मल है। हम डरें किस लिए कि वह गया। वह गया तो पीछे से और आ भी तो रहा है। इसके स्वल्प होने की शिकायत भी हम नहीं कर सकते। इस स्वल्पता मे ही उसके मिलने की सारी मधुरता भरी है। जहाँ वह बहुल हुआ, वहीं संसार की हाट में उसका मूल्य आधा भी न रह जायगा।

दूसरे की जगह छेक कर मुझ जैसे आदमी इस पृथ्वी पर अधिक रहे भी तो इससे संसार को मिलेगा क्या? देखा गया है, महापुरुषो को समय की शिकायत नहीं होती। अपने अत्यल्प जीवन काल में ही वे सब कुछ कर जाते हैं। कितने ही महापुरुषो को तो हम उनके जीवन काल मे पहचान भी नहीं पाते। उनकी मृत्यु के विजय-शंख में ही उनकी वाणी और उनके उद्देश्य का प्रचार होता है। शंकराचार्य जो ज्ञानरत्न लेकर आये थे, उसे देने के लिए उन्हें किसी बहुत बड़े जीवन की आवश्यकता न थी। उनके लिए उतना ही बहुत था। स्त्रियों पे

विषय में भी यही बात है। लक्ष्मीबाई के दीर्घ जीवन की कामना मैं नहीं करना चाहता। किसी तरह उन्हे दीर्घायु मिल भी जाती, तो सम्भव है, वे अपने जीवन काल में भी जीवित न रह सकती! फिर भी ऐसे जन चिरजीवन पा सकते तो इससे संसार का हित ही होता। परन्तु जब उन्हे अपने जीवन का मोह है ही नहीं, तो वे उसकी भिक्षा के लिए बन्दर के आगे हाथ क्यो पसारने चलेंगे?

एक बात और। हम जानते हैं कि हमारे राम इस लोक मे बेशरम मेहमान की भाँति नही आते। दूसरे की असुविधा का विचार न करके यही डटे रहना उन्हें नही रुचता। सम्भ्रान्त अतिथि जानते है कि दरिद्र की कुटी उन्हें चिरकाल तक वहन नही कर सकती। मृत्यु के उस पार के चिरन्तन वैकुण्ठ के ही लिए वे उत्सुक रहते हैं। इसीसे रावणो की भाँति चिर जीवन का वरदान लेने के लिए उन्हे विधता के द्वार पर धरना नहीं देना पड़ता।

एकसंख्यक राम अपने परिजनो के साथ थोड़े समय के भीतर ही यहाँ से चले जायँ और अपने से भी अधिक बलशाली असंख्य पुत्र-पौत्रो के साथ, रावणवर्ग दुगुना जीवन काल प्राप्त करले,—क्या कोई यह बात पसन्द करेगा?

पौष १९९१

अन्यभाषा का मोह

कल एक विशेष व्यक्ति यहाँ के प्रेस में इंजिन के पास आकर खड़ा हो गया। ऊपर से नीचे तक उसकी पोशाक साहबाना थी। मै चौंका कि शास्त्र के 'अतिथि-देवो भव' का थोड़ा-बहुत पालन अब हमें करना ही पड़ेगा। तब तक भैया ने उससे प्रश्न कर दिया—क्या चाहते हो ? आगन्तुक ने उत्तर दिया—हम इंजिन देखना माँगता है।

मालूम हुआ कि आगन्तुक की केवल पोशाक ही साहब की नहीं है, उसकी बोली में भी साहब बैठा है! खेद इतना है, उसका यह साहब बहुत देर तक टिका न रह सका। वह हम जैसो की जाति का ही 'काला आदमी' निकला। चार पाँच बरस पहले एक अँगरेज ने हमारे पड़ोस में कुछ दिन तक इंजिन से चलने वाली एक आटा-चक्की खोल रक्खी थी। यह व्यक्ति उसीका ड्राइवर था। उस समय हममें से किसीने स्वप्न में भी ऐसा न सोचा होगा कि यह व्यक्ति इतने थोड़े समय मे स्वयं ही एक दिन पूरा साहब बन जायगा। अपने इस भाई की यह पदोन्नति मुझे अच्छी नही लगी, यहाँ यह स्वीकार ही करना पड़ेगा।

परन्तु अब सोचता हूँ, उसके प्रति मुझे जो विरक्ति हुई थी, वह न्याय-संगत न थी। वह व्यक्ति दस-पन्द्रह रुपये माहवारी की हैसियत का है। पढ़ने-लिखने मे कदाचित् अपना

नाम ही रोमन-लिपि में पढ़-लिख सकता हो। यही वह कारण है, जिससे हमारा न्याय्य विचार वह नहीं पा सका। अर्थात्, उसके पास वह वस्तु न थी, जिसे अँगरेजी राज्य में अदालत की फीस कहते हैं। धन अथवा ऊँची शिक्षा के द्वारा यदि हमारे आदर का शुल्क चुका सकने की क्षमता उसमे होती, तब न तो उसकी वेश-भूषा और न उसका वचन-विन्यास, कुछ भी, हमारे निकट हास्यास्पद नही होने पाता।

पोशाक की कोई बात नहीं। उसका स्वराज्य बहुत पहले हमे प्राप्त हो चुका है। और कुछ न हो, हमारी पोशाक में जूता विदेशी होना ही चाहिए। इसके विना अपने न्यायालयों को सार्वजनिक सीमा में भी हमारा प्रवेश नहीं हो सकता। इस तरह बहुत दिन तक पहन चुकने के कारण, हमारे पैर मे क्या, मन में भी अब यह कोई छाला पैदा नहीं करता। अतएव अपने इस भाई के कारण हमें जो विरक्ति हुई, उसका कारण वह पोशाक न होकर उसको वह विचित्र भाषा ही होनी चाहिए।

परन्तु मुझे सोचना यह चाहिए था कि अपने माननीय शिक्षितों के मुहँ से प्रति दिन जो भाषा हमें सुननी पड़ती है, वह क्या इससे कुछ भिन्न है? क्या उनकी भाषा भी इतनी ही हिन्दी या इतनी ही अँगरेजी नहीं होती, जितनी हमारे इस भाई की थी? जो प्रवृत्ति इसके भीतर काम कर रही थी, उससे हमारे असंख्य (अथवा सुसंख्य?) शिक्षित भी क्या अपने को बचा सके हैं?

मैं बड़ो के ऊपर आरोप करने जा रहा हूँ। किन्तु ऐसों के सम्बन्ध मे अच्छी तरह आगा-पीछा सोचकर ही कुछ कहना उचित है। उनके प्रतिपक्ष का सुबूत जुटा लेना सबका काम नहीं। इसलिए अपनी बात पर मुझे फिर अच्छी तरह विचार कर लेना है।

भाषा के सम्बन्ध में हमारे शिक्षितों की जो मनोवृत्ति है, उसने मेरे हृदय में निरन्तर पीड़ा पहुँचाई है। केवल हमारे शरीर, हमारी जमीन-जायदाद, हमारे नद-नदी, हमारे वन-पर्वत आदि पर ही यदि अँगरेज का अधिकार होता तब हमारे लिए बहुत चिन्ता की बात न थी। यह सब हमारा देश होने पर भी ऊपर की मिट्टी के बराबर है। हमारा सच्चा देश तो हमारे हृदय और मस्तिष्क के भीतर सुरक्षित था। वहाँ की भूमि पर न तो कोई रेलगाड़ी पहुँच सकती थी और न वहाँ किसीका वायु-यान भी अपनी उड़ानें भर सकता था। हमारे इस अभ्यन्तर की विजय विजेता की भाषा के द्वारा ही सम्भव थी। एक सच्चे सैनिक की भाँति अपने लिए लड़ते हुए यदि विपक्ष के द्वारा हम वन्दी कर लिए जाते, हमारे हाथ-पैर में हथकड़ी-बेड़ी पड़ जाती, हमारा शरीर किसी अँधेरी कोठरी में बन्द कर दिया जाता, तब भी हमारी पराजय न थी। इन सब बन्धनों को अस्वीकार करके हमारा हृद्गत भाव, हमारी निज की भाषा में अपने पौरुष और स्वातन्त्र्य का विजय-शंख फूँक देता!

दुर्भाग्य-वश ऐसा न हो सका। हमे सचमुच ही पराजित

जो होना था। यह बात गलत है कि पलासी की लड़ाई में थोड़े-से अँगरेजों ने हिन्दुस्तान जीता। उस दिन उनकी जीत अवश्य हुई, परन्तु वह जीत हिन्दुस्तान की पराजय न थी। एक स्थान पर नवाब के कुछ सैनिक किसीसे धोखा खा गये थे, तो क्या यह कोई बहुत बड़ी बात हुई? हिन्दुस्तान जुएँ के दाँव पर रक्खा हुआ निर्जीव धन का कोई ढेला न था, जो एक ही पाँसे में इधर का उधर हो जाता। लड़ाई के सच्चे खेल मे वह कभी हराया भी जा सकता था, इसमें भी मुझे सन्देह है। एक बड़े अँगरेज ने हमसे प्रश्न किया है कि तुम हमारी तलवार से शासित होना चाहते हो या कलम से? उसकी इस बात में ऊपरी दम्भ चाहे जितना प्रकट हो रहा हो, मुझे तो इसमें उसके भीतरी भय का ही आभास मिला है। उसके मन में कहीं न कहीं यह बात अवश्य थी कि तलवार के जोर से हम पर वह अपना शासन नहीं चला सकता। उसे चला सकता है तो केवल कलम के जोर से। उसके एक हाथ में तलवार थी और एक में कलम। और जब कि कलम की श्रेष्ठता का बखान हम स्वयं उसीके मुहँ से सुन रहे हैं, तब यह अनुमान करना कठिन नहीं कि काम करने के उसके दाँयें हाथ में क्या था और बायें में क्या। बाँयें हाथ में उसकी जो तलवार थी, वह दाँयीं ओर की कलम के प्रकाशन विभाग का एक प्रदर्शन मात्र थी। प्रत्यय उसे अपनी कलम पर-ही था, तलवार पर नहीं। पलासी की लड़ाई में भी अँगरेज के हाथ में

६

कलम ही थी; तलवार तो उसके बायें हाथ में भी वहाँ दिखाई नहीं देती ! इसीसे मैं कह रहा था कि इस युद्ध में अँगरेज ने हिन्दुस्तान जीता,—यह बात गलत है। जिस दिन और जिस जगह निश्चित रूप से हमारी हार हुई, उसका उल्लेख हमें अपने स्कूल के इतिहास में नहीं मिलता। इतिहास की यह बहुत बड़ी घटना हमारे बाह्य जगत् में घटित भी नहीं हुई। इसका मुख्य क्षेत्र हमारा मस्तिष्क और हृदय था।

एक बहुत बड़े दुर्दिन में अँगरेज राजदूत ने अपनी दुर्गम भाषा में हमारे भाग्य का निर्णय करने वाला कोई कानून रचा। हमारा जन साधारण समझ भी न सका कि यह हो क्या रहा है। बात उसीसे सम्बन्ध रखती है अथवा किसी दूसरे से, यह निर्णय भी वह नहीं कर सका। तब तक उसने देखा कि हमारा अग्रवर्ती शिक्षित उस राजदूत से उसीकी बोली में कुछ कहता हुआ अपनी प्रसन्नता प्रकट कर रहा है। ध्यान दीजिए, कितनी अद्भुत और असाधारण बात थी ! विस्मय से हमारी जनता मिट्टी की मूर्त्ति की भाँति निर्वाक् और निःस्पद रह गई। थोड़ी देर में ही वह शिक्षित उसकी ओर मुड़कर नाक सिकोड़ता हुआ कहता है,—'माई लार्ड ने तुम्हारे बहुत फायदे का बात कहा, तुम लोग उसे समझने नहीं सकता।'—तुम लोग ! एक ही क्षण में 'तुम लोग' का मस्तक अपनी किसी हीनता की लज्जा से नीचे की ओर झुक गया। बुरा क्या था, जो सदा के लिए वह उसी तरह झुका रहता। परन्तु नहीं, अपने इस शिक्षित के द्वारा उस

असामान्य भाषा के समझ जाने का गर्व लेकर वह मस्तक फिर से ऊपर उठा दिखाई दिया। बस, बात की बात में संसार के इतिहास की सबसे विचित्र घटना घटित हो गई। हमें पता भी नहीं चला कि हमारा यह हिन्दुस्तान कब हमारे हाथ से निकल गया। उसकी पराजय बात की बात में हो गई। उस पराजय को आनन्द के साथ उसने सीधा सिर करके वहन भी कर लिया। इस युद्ध में न तो संसार ने तलवार की चमक देखी और न उसने किसीकी तोप का गर्जन ही सुना। मर्मभेदी चोट की अस्फुट ध्वनि कदाचित् हुई थी, किन्तु स्वयं आहत के कान तक भी वह नहीं पहुँच सकी।

इसके पहले यह आहत हिन्दुस्तान युद्ध में किसी कौशल से वन्दी कर लिया गया एक सैनिक मात्र था। जिस बन्धन मे वह उस समय था, वह किसी भी वीर के लिए विधाता का दिया हुआ श्रेष्ठ सिरोपाव हो सकता है। अपनी सतेज वाणी में अपनेपन का वीरदर्प वह प्रकट कर सका होता तो उसके शरीर के समस्त बन्धन उसके लिए आभूषण हो उठते! ऐसे में हमारे उस शिक्षित ने आभास से, इंगित से, अपने स्पष्ट आचरण से, हम पर यह प्रकट किया कि हम विजेता की भाषा नहीं समझ सके, इसलिए हम हेय हैं; अपने आप हम कुछ नहीं कर सकते! हमारे लिए अच्छा यही होगा कि हम अपने को किसी दूसरे के सुपुर्द कर दें। न जानें वह कौन-सा मोह था, जिसमें पड़कर हमने अपना सिर हिलाया। हमने अपना सिर हिलाया

और हमारे जीने-मरने का फैसला तुरन्त एक क्षण में हो गया।

इतिहास की पोथी मे लिखा न होने पर भी हमारी वास्तविक पराजय का इतिहास यही है। इस पराजय की भाषा विजातीय होने के कारण ही इसे हम समझ नहीं सके। हमारे मन में विदेशी पहुँचा और तुरन्त हमने अनुभव किया कि हमारी वेशभूषा और हमारी भाषा असभ्य है। डेढ़ सौ बरस विदेशी का सत्संग करके भी हमारी यह असभ्यता दूर नहीं हो सकी है। कभी दूर होगी भी या नहीं यह कौन जानें! असल बनने के लिए अभी तो हमारे नकल करने का ही क्रम चल रहा है। इस नकल-नवीसी में जो जितना आगे बढ जाय, हममें वह उतना ही बड़ा है। एक सामान्य ड्राइवर की भाषा सुनकर मुझे विरक्ति हुई थी। परन्तु अपने शिक्षित की ओर भी कभी हमने देखा है? अशिक्षित समझ कर वह हमसे हिन्दी में बात तो करेगा, परन्तु झड़ेगी उसके मुहँ से अँगरेजी ही। हमारी योग्यता अथवा अयोग्यता के विषय में वह यही देखकर निर्णय करेगा कि उसकी इस विशेषता में हम कितनी दूर तक उसका साथ दे सकते हैं।

यही वह मोह है, जिसने हमारी नस नस में गुलामी भर दी है। हम दस पन्द्रह रुपये पाने वाले साधारण जन हों तो भी और दस पन्द्रह हजार की हैसियत के असाधारण व्यक्ति हों तो भी,—प्रयत्न हमारा यही रहता है कि हम अँगरेज हो जायँ। अँगरेज हमसे बड़ा है, वह हमारा शासक है, अपनी एक एक बात में, अपने

एक एक शब्द में किसी तरह भी हम इसे भूल नहीं पाते। यदि हम इसे भूल नहीं पाते तो मै यह नहीं कहता कि इसे भूल जाना चाहिए। जिस दिन हम यह भूल जायँगे, उस दिन हमारा अस्तित्व मिट जायगा। परन्तु अपनी भाषा के ऊपर इस तरह अँगरेज को लाद कर क्या कभी हम अँगरेज हो सकते हैं? अँगरेज अपनी वेश-भूषा और अँगरेजी भाषा के कारण ही अँगरेज नहीं है। उसका गुण इसके परे की वस्तु है। फिर भी हमारे शिक्षित ने किया क्या है,—अँगरेज का फोटोग्राफ और ग्रामोफोन अपने ऊपर लादकर वह समझ रहा है, हमने अँगरेज को पा लिया!

इस समय एक देहाती की मूर्ति मेरे सामने है। इसके सिर पर टेढ़ा-मेढ़ा साफा है; शरीर मे देहाती दर्जी का बनाया हुआ अँगरेजी कोट और पायजामा है; पैर का जूता भी वहीं के चमार द्वारा बना हुआ अँगरेजी ढंग का ही है। भाषा इसकी और भी विचित्र। अदालत में गवाही देने के काम से आता-जाता रहता है, इसलिए वहाँ के अहलकारो से इसने कुछ उर्दू के शब्द सीख लिये हैं। मौके बेमौके अपनी देहाती बोली में उनके विकृत रूप को मिलाकर यह समझता है कि मैं बहुत बड़ा समझदार और बहुत बड़ा बाबू हो गया हूँ। ठीक इसी व्यक्ति के साँचे में ढला हुआ हमारा शिक्षित भी है। इन दोनो में वास्तविक कोई भेद नहीं। दोनो का ही दम्भ और गौरव झूठा है। जिस दृष्टि से हम अपने इस देहाती भाई को

देखते है, उसी दृष्टि से हमारे शिक्षित को अँगरेज भी देख सकता है। उसकी वेश-भूषा और भाषा सबकी सब अँगरेज के लिए उतनी ही कौतुकावह और हास्यास्पद है, जितनी इस देहाती की हमारे लिए।

मेरे मन में इस शिक्षित की ओर से कोई कह रहा है कि विदेशी के प्रति इसका जो आकर्षण है वह अस्वाभाविक नहीं, इसलिए क्षम्य है। इस विश्व मे निखिल के एक साथ अटूट आध्यात्मिक सम्बन्ध होने के कारण दूर और सुदूर का भी आमन्त्रण निरन्तर हम सबको मिलता रहता है। इस आमन्त्रण की उपेक्षा नहीं की जा सकती। परन्तु हमारी शक्ति परिमित होने के कारण अपने इस स्थूल देह को लेकर हम सब कहीं उपस्थित नही हो सकते। फलतः मनुष्य ने जहाँ काले, अछूत के लिए अनेक कायदे-कानून बनाकर मोटे मोटे अक्षरो मे 'प्रवेश-निषेध' लिख रक्खा है, वहाँ भी इस मन की सहायता से जा पहुँचने से वह नही रुकता। निखिल के साथ हमारे इस महा-सम्मिलन का क्षेत्र भाषा भी है। अनेक नद, नदी, समुद्र और दुर्गम वन-पर्वत लाँघकर एक भाषा के शब्द दूसरी भाषा के शब्दों से अभिन्न भाई की भाँति एक दूसरे के गले लगते है। आज के युग में खालिस और सुसंस्कृत भाषा के लिए जीवितो में स्थान नहीं। एक परिवार दूसरे परिवार के साथ जिस तरह सम्बन्ध स्थापित करता है, उसी तरह एक भाषा दूसरी भाषा से करती है। ऐसा न हो तो वंश-वृद्धि के अभाव से

थोड़े ही काल मे उसे मृत हो जाना पड़े। यह संसार ही ऐसा है कि इसमें एक के भीतर नहीं, अनेक के भीतर ही पूर्णता का आवास है।

बहुत ठीक। परन्तु हमारे शिक्षित ने अपने को रक्खा ही कहाँ है? दूसरे से मिलने का जो आनन्द है वह तभी है, जब अपने का अस्तित्व रक्खा जाय। हमारा शिक्षित अपने अस्तित्व को मिटाकर चकनाचूर कर चुका है। उसके विदेशी का यह मोह किसी बहुत ऊँचे तत्व को लेकर नहीं है। अपनी भाषा को, अपने देश को दलित करके ही उसने विदेशी को अपनाया है। अथवा कहना चाहिए,—उसे उसने अपनाया है स्वदेशी को छोड़ देने के लिए। जब एक शिक्षित अपनी माँ का और अपने पिता का उल्लेख 'मदर' और 'फादर' कह कर करता है, तो इससे बढ़कर अरोचक मुझे कुछ नहीं लगता। यह उसका अभ्यास है, तो कहना चाहिए,—उसने अपने कुल और देश को अपने से दूर कर दिया था, इसी कारण ऐसा हुआ। अपने बहनोई के लिए यदि वह 'ब्रदर-इन-लॉ' कहे तो मै किसी तरह उसे क्षमा भी कर सकता हूँ। परन्तु नहीं, उसने पहले अपने माँ-बाप पर ही हाथ साफ किया है!

शिक्षित के पक्ष में एक बात यह भी कही जा सकती है कि वह साहित्य-रस का रसिक है। मातृभाषा की माता के घर मे उसका मन नहीं लगता, इसलिए उसका तारुण्य अन्यभाषा की प्रेयसी की खोज मे निकला है। वह मनुष्य ही तो है!

स्वभाषा को माता का कोना कोना उसका जाना-समझा है (सचमुच ?) यहाँ उसके लिए कोई रोक-टोक नहीं। उसे एक ऐसा क्षेत्र भी चाहिए, जहाँ अपने पौरुष से वह कुछ प्राप्त कर सके। उसकी इस लालसा की पूर्त्ति अन्यभाषा की प्रेयसी के घर ही सम्भव है।

हमारा यह साहित्य-रस-रसिक शिक्षित यदि अपनी इस प्रेयसी के घर ही गया है तो वह वहीं रम क्यों गया ? उससे यह क्यों नहीं हुआ कि परिणीत होकर वह अपने घर लौट आए और माता के पैरों पर प्रणाम के लिए इस नव-वधू को अपने साथ झुका दे ? इसके अतिरिक्त ससुराल में प्रेयसी का प्रेम पाकर भी वह रह सका होता, तब भी एक बात थी। उस घर में उसका सम्मान उतना भी नहीं, जितना किसी कुत्ते अथवा बिल्ली का वहाँ है। सब तरह का अपमान और हीनता सहकर भी वह वहीं रह रहा है। उसकी माता उसके विना किस निर्धनता में दिन प्रतिदिन क्षीण होती जा रही है, क्या कोई यह सन्देश उस तक पहुँचा सकेगा ? दुःख इसी बात का है कि माता का यह सन्देश उसकी निज की भाषा में है और उसका बेटा उसे एक दम ही नहीं समझता !

माघ
१९९१

अपूर्ण

वसन्त का आगमन अभी हाल में ही हुआ है। बहुत-सी बातो के कारण घर में उससे दो घड़ी बात कर लेने का भी समय नहीं मिलता। इसके लिए वन और खेत का एकान्त चाहिए। इसी कारण आज का काम कल कर लेने की मूर्खतापूर्ण बात सोचकर भी आज सन्ध्या समय कुछ जल्दी घूमने के लिए बाहर निकल आया हूँ।

वृक्षों में नई नई कोपलें आ गई है। आम ने मौरकर अपने भीतर की खटाई और कसैलेपन को भी मधुर कर दिया है। नये जीवन को उष्णता पाकर हवा भी कुछ और की और हो गई है। कदाचित् कोइल भी कूकने लगी है, परन्तु अभी तक मैं उसे सुन नहीं सका। सुन कैसे सकूँ, पहले पहल किसी कवि-सखा के कान में ही वह अपना अमृत ढालेगी।

कुछ हो, किसी तरह कवि बनने की इच्छा तो आज मेरी भी है। कम से कम काम मैं कवि का हो कर रहा हूँ। पक्की सड़क की मोटी 'लीक' छोड़कर घूमने के लिए मै खेतों की ओर मुड़ गया हूँ। मैने यह विचार नही किया कि यह रास्ता ऊँचा-नीचा, चौड़ा-सकड़ा, टेढ़ा-मेढ़ा, और जहाँ तहाँ झाड़-झंखाड़ और काँटो से भरा होने के कारण मुझ जैसे जन के चलने योग्य नहीं है!

साँझ के मटमैलेपन के ऊपर सप्तमी के अर्द्धचन्द्र का प्रकाश स्पष्ट हो उठा। स्पष्ट उतना ही जितना यह है। सोचा

था, खेतो की हरियाली से ही मैं आज अपने को तृप्त करूँगा; चाँदनी का रस लेने के लिए मुझे पूर्णिमा की प्रतीक्षा करनी होगी। परन्तु मेरा मन अब यह कुछ नही सुनना चाहता। एकाएक भीतर के भीतर तक वह पुलकित हो उठा है। पक्के व्यवसायी की भाँति तेरह के उधार का लोभ छोड़कर उसने नौ का ही यह नगद सौदा तत्काल पक्का कर लिया है।

यह पूरा विकसित नहीं है तो क्या हुआ, इस अधूरे के भीतर भी उस पूरे का ही प्रकाश है! अधूरे और अधखिले में भी अपना कुछ स्वाद है, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। जिन नववयस्कों को रसना और दन्तपंक्ति में बुढ़ापे का कीट नहीं लग गया, उन्हें कच्चे आम में भी पके रसाल की अपेक्षा अधिक रस मिलता है। इस विषय में मेरा निजी अनुभव भी ऐसा ही है। बहुत पहले इन्हीं दिनो एक बार मैंने लगातार तीन चार महीने खटिया पर रोग का सेवन किया था। लेटे लेटे उस समय मै प्रायः यही प्रश्न किया करता था कि मेरे अच्छे होने तक अमियो की फसल तो रहेगी? मेरे सिरहाने बैठकर इस सम्बन्ध में अन्यथा आश्वस्त करके भी जिसने मुझे उस समय प्रसन्न कर रक्खा था, उसे साक्षी के रूप में पाठक के सामने उपस्थित कर सकने मे आज मै असमर्थ हूँ। फिर भी उस आनन्द की स्मृति चिरस्मरणीय होकर मेरे साथ है। उस समय मुझमे रसबोध नही था, यह मै स्वीकार नही करना चाहता। आनन्द देवता के उदार हाथो से जब जो मिले, उसीसे

सन्तुष्ट हो सकने में ही हमारा गौरव है। नहीं तो हममें और सिर फोड़कर धरना देने वाले मंगतो में अन्तर ही क्या रहा ? इस अर्द्धचन्द्र का पूरा का पूरा वैभव छीनकर, हमने इसे कल के लिए कंगाल नहीं कर दिया, इससे बढ़कर दूसरा आनन्द हमारे लिए हो नहीं सकता। वर्ष के प्रारम्भ मे ही न जानें कब से मधु मास हमें आधा हो मिलता आ रहा। कदाचित् ऐसा इसलिए कि उसके मधु-भंडार की अक्षयता में हमारा विश्वास बना रहे। और, इस प्रकार हमारा यह वर्ष ऊपर से नीचे तक पूरा का पूरा मधुमिश्रित हो गया है, इसका कहना ही क्या।

आश्चर्य की बात है कि इतने सुन्दर इस अर्द्धचन्द्र की उपेक्षा हमारे कवियों ने क्यो की। मुझे याद नही पड़ता कि इसे देखकर उन्होंने कभी अपना उल्लास प्रकट किया हो। कहने को कहते वे यही हैं कि 'सब उघरे सोहें नही कवि आखर'— इत्यादि। चाहते तो इस सूची में वे इस प्रेयस् चन्द्र को भी शामिल कर सकते थे। परन्तु न जानें वे क्यो इसे पूरा ही देखना चाहते हैं, भले ही इसके लिए उन्हें अपना सिद्धान्त बदल देना पड़े। वे जानते हैं कि इस वास्तविक जगत् मे 'नित प्रति पूनो ही' नहीं रह सकती। पूनो का संगीत सुनने के लिए तीस दिन की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। उस तीसवें दिन भी राहु-केतु, विजली और बादल की कड़क आदि न जानें कितनी कितनी बाधाएँ हैं। हालत उनकी, उनके कहने के ही अनुसार,

ऐसी है कि बस अब या तब। फिर भी न तो उनकी प्रेयसी पूरे चन्द्रमा को देखे विना अधीर हो सकती है और न वे स्वयं भी आँसू बरसा सकते है। कवियो की देखा-देखी हमारे समालोचको का हाल भी ऐसा ही है। उन्हें भी पूरा ही पूरा चाहिए। उस पूरे में भी देखने को यद्यपि वे कलंक ही देखेंगे, परन्तु इस अधूरे के लिए तो उन्हे इतना कष्ट भी स्वीकार न होगा। जो हो, कवि और समालोचक को देखने का समय आज मुझे नहीं है। आज मैं इस अर्द्धचन्द्र का आनन्द नहीं छोड़ना चाहता। कवीर ने उपदेश किया है कि जो कल करना चाहते हो, उसे आज करो; और आज के करने का जो काम है उसे अभी, इसी समय। तुरत दान, महा कल्यान! इस संसार में प्रत्येक पल प्रलयशील है; उसका बनना-बिगड़ना हम किसी भी क्षण देख सकते हैं। मै नहीं चाहता कि पूनों के चन्द्र को देखने के लिए चौबीस घन्टे के कितने ही दिन-रात आँखें मूँदकर बैठा रहूँ। मै बैठा रहना चाहूँ तब भी यह बात होने की नहीं दिखाई देती। फिर किसी कवि अथवा किसी समालोचक के कहने से मै आज का यह आनन्द अन्य कितने ही कलो के लिए क्यो छोड़ दूँ? आज के आनन्द का उपभोग आज करूँगा, और कल परसों का क्रम बीच में ही भंग नहीं हो गया तो मैंने कुछ ऐसी शपथ नहीं ले रक्खी है कि फिर मैं आँखें खोलूँगा ही नहीं।

मैं समझता हूँ, सप्तमी नहीं तो वसन्त की द्वादशी ही वह होगी, जिस दिन वाल्मीकि ने करुणा के खारी जल से

अपूर्ण

अपनी दोनों आँखों का कीच धोकर पहले-पहल रामचन्द्र का दर्शन किया। इस अवतार में भगवन् की द्वादश ही कलाएँ हैं न? मैं मान लेता हूँ, द्वादश नहीं और कम थीं। परन्तु क्या कभी मैं यह भी मान ले सकता हूँ कि उनकी यह अपूर्णता अग्राह्य है? इस अपूर्णता को लेकर आज के इस घोर युग में भी हम सत्युग के,- अच्छा सत्युग नहीं तो त्रेता के, उस साकेत-धाम में विहार करने लगते हैं, जिसे बड़े से बड़ा पुरातत्वदर्शी बाहर से झाँक कर देख तक नहीं सकता। कुछ क्यो न हो, आज मैं किसीके भी बहकावे में किसी तरह नहीं पड़ना चाहता।

अच्छा हाँ, कृष्णचन्द्र षोडशकलावतार थे। यह ठीक है। ऐसा होने पर भी, किन्तु, यह भुला देना ठीक नही है कि इस पूर्णचन्द्र के साथ कृष्ण जुडा हुआ है, शुक्ल नहीं। महत्व वहीं है, जहाँ अन्धकार में प्रकाश हो। विधाता ने केवल अन्धकार अथवा केवल प्रकाश को ही सृष्टि की होती तो उसकी बहुमुखी प्रतिभा का मूल्य बहुत निम्नकोटि के कलाकार जितना भी न रहता।

ज्ञान अथवा अज्ञान के विषय में भी यही बात है। मन्त्रद्रष्टा ऋषि 'नेति-नेति' कहकर जब आगे का अपना अज्ञान स्पष्ट स्वीकार कर लेते हैं, तभी यह बात हमारे मन में जमती है कि कहीं ज्ञान है तो यहाँ, केवल इनके पास। परम ज्ञानियो और महात्माओं की सेवा और सत्संग में रहकर भी मनुष्य को

शान्ति मिलती होगी, परन्तु उस आनन्द की तुलना दूसरी जगह नहीं पाई जा सकती, जिसे कोई अबोध शिशु अनायास एक घड़ी के भीतर दे देता है। हमारे साहित्य के सूर्य और चन्द्र का अनुभव भी इस विषय में ऐसा ही है। ज्ञान के प्रवीण उद्धव की बात इनमें से एक ने सुन तो ली, परन्तु मन उनका वहीं लगा है, जहाँ उनका उपास्य बाल रूप में—

"शोभित कर नवनीत लिये,
घुटरुन चलत, रेनु तन मंडित, मुख दधि लेप किये।"

दूसरे घर-बार त्यागी साधु का हाल भी ऐसा ही है:—

"घुँघराली लटें लटकें मुख ऊपर कुंडल लोल कपोलन की ;
निवछावर प्रान करे तुलसी, बलि जाउँ लला इन बोलन की।"

बात यह है कि ऊपर से मनुष्य कितना ही ज्ञानी क्यो न प्रतीत होता रहे, उसका भीतरी मन जानता है कि वस्तुतः एक अस्फुट शिशु से ज्ञान में 'वह किसी भी भाँति अधिक नही। इसीसे जब उनकी मंडली में वह पहुँच जाय, तब मानों समवयस्कों की सैली और संगति पाकर उसका भीतर-बाहर एक दम खिल पड़ता है। उस समय वह यह नही सोचता कि ऐसा बाल-गोपाल तो उसे अपने घर में ही मिल सकता था। इसके लिए हाथ मे कमण्डलु लेकर और शरीर में भभूत रमाकर इतना भटकने की आवश्यकता उसे न थी। आज यह अपूर्ण, यह अविकच मुझे अनायस मिल गया है। आगे आने वाले किसी पूर्ण की लालसा मे आज का यह आनन्द छोड़ देने की मूर्खता मैं नहीं करूँगा।

मेरे ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर सप्तमी के चन्द्र की यह चाँदनी छिटकी पड़ी है। ऊपर से नीचे तक हलके वसन्ती रंग की होली खेलकर इसने मुझे सराबोर कर दिया। मेरे चारों ओर गेहूँ, चना, अलसी और सरसों के हरे हरे खेत हैं। पककर अभी पूरे नहीं हुए, इससे ये भी मेरे मन के साथ ठीक मेल खा जाते हैं। सन्ध्या समय वायु के हिलकोरो के साथ जो शोभा इनकी थी, इस धुँधली चाँदनी में अब वह दिखाई नहीं पड़ती। फिर भी इसके लिए मुझे शिकायत नही है। यहाँ मैंने बहुत कुछ देख-सुन लिया। अपरिहार्य होकर मेरे भीतर जो अस्पष्टता, जो अवगुण, जो त्रुटि, जो अपूर्णता, निवास कर रही है, उसके लिए आज मै अपने को धिक्काॅरूँगा नहीं। वृक्षो के इस छोटे झुरमुट के नीचे आकर मैं देखता हूँ कि छाया और प्रकाश के ये छोटे छोटे बच्चे यहाँ एक दूसरे से हिल मिलकर खेल रहे हैं। वसन्त का भीना भीना पवन वृक्ष के पल्लवो को गुदगुदाता है और छाया और प्रकाश के ये सरल बच्चे लोट पोट होकर गिर गिर पड़ते हैं एक दूसरे के ऊपर। एक दूसरे से विभिन्न होकर भी ये परस्पर एक दूसरे के लिए 'अब्रह्मण्य-अब्रह्मण्य' का चीत्कार नही करते। इस झुरमुट के बाहर खुले में भी कुछ ऐसा ही है। इस धुँधली चाँदनी में अप्रकट और प्रकट को एकरस देखकर मैंने भरत-मिलाप का नया दृश्य देख लिया। एक ही माँ के दो यमज लालों की भाँति ये एक दूसरे को भेटते हुए छाती से छाती मिलाकर

आपस में मिल गये हैं। इनमें कौन प्रकाश है और कौन अन्धकार, इसका पता मुझे नहीं लगने पाता। इन दोनों सहोदरों का चिरन्तन द्वन्द्व मिट चुका है; दो होकर भी दोनो जैसे यहाँ एक है। अपूर्ण और पूर्ण, दुःख और सुख, शंका और समाधान, दोष और गुण आपस में प्रेम से मिलकर कितने मधुर हो सकते हैं, इसका पता मुझे आज यहाँ लग गया।

वसन्त का कोई सन्देश सुनने के लिए मैं घर से निकला था। कह नहीं सकता, कितना उसने अपने में छिपा रक्खा और कितना मुझे दिया। कुछ हो, जितना मुझे मिल गया है, वह भी मेरे लिए कम नहीं।

माघ १९९१

एक दिन

सबेरे के दूसरे काम पूरे करके आज जब कलम लेकर लिखने के लिए अपनी जगह आ बैठा, तब जी में विशेष उत्साह न था। बात यह है, लिखने को आज कुछ था ही नहीं। दो तीन दिन से लगातार एक भाव का पीछा कर रहा था। बहुत दूर तक जब उसके पीछे दौड़ चुका, तब आज एकाएक मालूम हुआ कि मुझे धोखा देकर बीच में ही वह हाथ से निकल गया है। मेरे निरुत्साह का कारण यही था।

लिखने के लिए सामने कुछ न होने पर भी व्यर्थ कलम लेकर क्यों अपनी जगह आ बैठा हूँ, आज मैं इसीको समझना चाहूँगा।

हम जानते हैं, ऊपर से स्पष्ट प्रकट न होने पर भी संसार में हम सबके सब व्यवसायी हैं। विद्यालय में बैठकर छोटी अवस्था का जो बालक अध्ययन कर रहा है, उसे हम व्यवसायी नहीं कहते; परन्तु व्यवसायी वह भी है। वह अपने परिश्रम और समय की पूँजी लेकर विद्या का अर्जन करने के लिए ही वहाँ बैठा है। खेत के किसान के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा जा सकता है। अपने परिश्रम के पसीने से तमतमाती दुपहरी को भी शीतल करके वह वहाँ हल चला रहा है, परोहा सींचकर खेत की मिट्टी गीली कर रहा है और घर से अन्न लाकर उसे वहाँ बो रहा है। संध्या समय क्लान्त होकर रीते हाथ वह घर लौट जायगा। इसका आशय यह कदापि नहीं कि उसका यह दिन व्यर्थ गया, अथवा दिन भर वह छाया के पीछे ही दौड़ता रहा है। सब व्यवसाय ऐसे नहीं होते कि इस हाथ से ग्राहक को कुछ देकर दूसरे हाथ से झट हमने उसका मूल्य ले लिया। जो बड़ा व्यापार करता है, उसे उधार का खाता खोलना ही पड़ता है। उधार के काम में खतरा है, यह सोचकर वह उससे अपने को बचा नहीं सकता। अधिक अविश्वास-परायण होने का नतीजा यह होगा कि वह अपने आप पर भी विश्वास न कर सकेगा। बिक्री का जो नगद मूल्य उसे

प्राप्त हुआ है, उसे अपनी सन्दूक में ताले का पहरा लगाकर रखते हुए भी उसे झिझक होगी। क्योंकि उस ताले की कुंजी केवल उसीके पास नहीं है; कहीसे प्राप्त करके चोर भी उसे अपने हाथ मे रख सकता है। परन्तु नहीं, उसे अपना विश्वास करना पड़ता है और दूसरे का भी। वर्तमान उसके पास है, इसलिए इसीसे वह अपना सब काम चला लेगा, उसका यह सोचना ठीक नहीं। उसके वर्तमान का सब आयोजन भविष्य के लिए ही है। आज के मधुर खाद्य को जीर्ण करके किसी आगे के दिन ही वह उससे यथोचित जीवन-रस प्राप्त कर सकेगा। इसी कारण बालक जब विद्यालय में बैठकर अपना पाठ याद करता है, तब यह नही सोचता कि गुरूजी को आज का सबक सुनाकर विद्यालय की समस्त उपाधियो के साथ आज ही मै अपने घर चला जाऊँगा। खेत का किसान भी यह नही सोचता कि आज उसने जो बीज बोया है, उसकी पकी फसल काटकर आज ही वह अपना बंडा भर लेगा।

ये सब बहुत बड़े व्यवसायी हैं। दूसरी पूँजियों के साथ समय की पूँजी भी प्रचुर परिमाण में इनके पास है। आज और कल के एक मे बँधे रुपये को तोड़कर उसकी रेजगारी से ही किसी तरह आज का काम चला लेने की आवश्यकता इन्हें नहीं पड़ती। पड़ती भी है तो उस स्थान पर, जहाँ बड़ी राशि के साथ एक पंक्ति मे बैठकर सामान्य कौड़ी भी मूल्यवान हो उठी है। जो शक्तिमान है, उन्हे वर्तमान के तैयार सौदे की अपेक्षा भविष्य के

वायदे के सौदे में ही लाभ है। उनके लाभ का हिसाब आज की मिती के रँगे हुए काले पृष्ठ पर नहीं मिल सकता। वह उनकी रोकड़ बही में कल परसों अथवा उसके और आगे के किसी उज्वल पृष्ठ पर ही अदृश्य की स्याही से अंकित है!

परन्तु एक फेरी वाला है। आने दो आने की मूँगफली अथवा और कुछ लेकर इस मुहल्ले से उस मुहल्ले में दिन भर वह चक्कर लगाता फिर रहा है। अपने व्यवसाय का लाभ इसे आज ही चाहिए। अन्यथा सन्ध्या के उपरान्त रात में भी इसके घर का चूल्हा नहीं सुलग सकता। भूत और भविष्य के अभिन्न संगियों से विलग होकर, इसका यह आज यहाँ अकेला पड़ गया है। समय के स्वामी के यहाँ इसका स्थान एक दैनिक मजदूर का है। वहाँ किसी स्थायी पद का आश्वासन इसे नहीं मिल सका। ऐसा व्यक्ति साँझ को घर लौटते समय आज के हानि-लाभ का हिसाब लगा लेने के विचार से यदि किसी सड़क के किनारे ही बैठ गया है, तो इसके लिए उसे कोई दोष नहीं दे सकता। इसका हिसाब ही कितना। आज के इस दिन को खण्ड खण्ड करके इसके प्रत्येक घंटे का चिट्ठा बना लेना भी इसके लिए कठिन नहीं है।

अपने जीवन-व्यापार में मेरी हैसियत भी इस फेरी वाले जैसी ही है। कल के सम्बन्ध में मेरे विचार घोर नास्तिकों जैसे नहीं, तो सन्देहवादियों जैसे तो निश्चय ही है! मेरे उपार्जन का लाभ मुझे आज ही चाहिए,—कल के उधार का

खाता खोलने की गुंजाइश मुझे कहाँ ? अतएव अपने वर्तमान को व्यर्थ हुआ देखकर यदि मैं खिन्न ही हुआ हूँ,—और कुछ मैंने नहीं किया,—तो मानता हूँ कि हाँ, मुझमें भी कुछ है !

देखता हूँ, एक नहीं, मेरे तीन तीन आज निष्फल हो चुके हैं। विचार का बोझा लिये लिये मैं किसी एक भाव का पीछा विश्वास-पूर्वक करता रहा हूँ। खड़े होकर दो चार बार उसने मुझसे भाव-ताव किया; हाथ में लेकर मेरे माल की परख की; फिर भी लिया-दिया कुछ नहीं और अविश्वास की हँसी हँसकर चुपचाप वह मेरी दृष्टि से ओझल हो गया है। क्रोध ऐसा आया कि इस व्यर्थ के बोझ को यहीं धूल में पटककर, कहीं दूसरी जगह निकल जाऊँ।

परन्तु फिर वही फेरी वाला। एक ग्राहक व्यर्थ ही मोल-तोल करके उसका सौदा नहीं लेता, तो इसका मलाल उसे नहीं है। वह किसी ग्राहक विशेष के लिए ही घर से बोझ लादकर बाहर नहीं निकला था। दूसरा-तीसरा ग्राहक भी उसके साथ पहले के जैसा ही व्यवहार करता है। परन्तु आशा फिर भी उसकी नहीं टूटती। पूर्ववत् इससे उससे बात करके बराबर वह घूमता ही फिर रहा है। मानो उसका लक्ष्य सौदा बेचना नहीं, घूम फिरकर चक्कर लगाना मात्र है। यह पहला घंटा गत हो चुका। दूसरे और तीसरे में भी उसे कोई आय नहीं हो सकी। और अब चौथे के सम्बन्ध में भी मुझे बहुत कुछ ऐसी ही आशंका है। आशंका मुझे है तो रहे, अपना काम वह

करता ही जा रहा है। मैं जिसे छोटा-सा एक दिन समझता हूँ, उसमें उसके लिए बारह घंटे हैं,—कदाचित् इससे भी कुछ अधिक। पूरे के पूरे एक जीवन की भाँति छोटा होने पर भी उसके लिए वह काफी बड़ा है! निराशाओं के थपेड़े खाकर बीच में ही यदि यह अपनी तंग कोठरी के लिए भाग खड़ा होता, तब क्या इसका यह दिन इतना ही बड़ा और अखण्ड रह सकता था? सम्भवतः नहीं। श्रमजीवी का दिन तुरन्त वहीं कट जाता है, जहाँ काम के घंटों में वह अपना स्थान छोड़कर घर चला जाय। यह फेरी वाला ऐसा नहीं करता। ग्राहक का आह्वान यह उसी लगन के साथ किये जा रहा है, जिसे पाकर भक्त जीवन भर अपने उपास्य का नाम लेते हुए नहीं थकता।

चाहता हूँ, मैं भी अपनी लेखनी इसी तरह लिये रहूँ। यदि एक भाव मेरे हाथ से निकल गया है, तो कोई बात नहीं। एक ग्राहक को लेकर ही बाजार बाजार नहीं बनता। दूकानदार को परेशान ही करके यदि वह एक ग्राहक निकल गया है, तब भी अन्त तक उसे अपनी दूकान खुली ही रखनी होगी। यहाँ ऐसा तो होता ही रहता है कि ऊपर से सम्भ्रान्त दिखाई देने वाला व्यक्ति कुछ लेता-देता नहीं और अचानक अत्यन्त अकिंचन प्रतीत होने वाला कोई अन्य व्यक्ति दूकानदार की मुट्ठी एक दम गरम कर जाता है।

देखता हूँ, इस फेरी वाले की सब बिक्री सन्ध्या के पहले ही पूरी हो गई और प्रसन्न मन से कुछ गुनगुनाता हुआ

वह घर को ओर लौट रहा है। एक विलक्षण बात और भी। मैं समझ रहा था कि इसके पास आज ही आज है, कल के वायदे का सौदा यह नहीं कर सकता। परन्तु अब मालूम हुआ कि मै गलती पर था। आज जो कुछ उपार्जित किया था, वह पूरा का पूरा रास्ते की एक भिखारिन के हाथ पर इसने एक साथ रख दिया। घर पर उसके बीमार पड़े बच्चे के सम्बन्ध में उसे कुछ उपदेश देकर, वह तेजी से आगे बढ़ जाता है। माता की आँख के आँसू और उसके ओठों पर आये हुए आशीर्वाद के अस्फुट शब्द भी मानो वह देखना-सुनना नही चाहता। इन्हें वह देख-सुन ले तो बहुत दूर के जिस भविष्य का अर्जन करने के लिए उसने यह व्यापार किया है, वह मानो यहाँ का यही इसी क्षण पूरा हो जाय। यह बात तो उसके मन मे है हो नही। उसने अपनी पूँजी यहाँ एक ऐसे ऊँचे व्यापार में लगाई है, जिसके मुनाफे का चिट्ठा एक, दो या दस-बीस बरस में भी कदाचित् न बन सके। इस जीवन के उस पार दूसरे जीवन तक का अटल धैर्य रखकर ही उसने यह कार्य किया है। अब इसे खाली हाथ घर लौटते हुए देखकर भी यह कौन कह सकता है कि इसका यह दिन व्यर्थ गया? व्यर्थ ही गया है, तब भी कोई बात नहीं। आज की व्यर्थता में ही कल की सार्थकता है।

इतनी दूर आकर अब मै अपनी खिन्नता दूर कर सकता हूँ। आज कुछ लिख लेना चाहता था। जो लिखना था, वह

नही लिखा जा सका। परन्तु जो कुछ लिख गया है, वह भी मेरे लिए क्या कम है ? तीन तीन दिन की व्यर्थता के ऊपर ही मेरे आज की यह इमारत खड़ी है। वह नींव यदि मैं कुछ और गहरे तक भर सकता, तो क्या मेरा यह आज और भी अधिक दृढ़ न हो जाता ?

मानता हूँ, मेरा भाग्य उस फेरी वाले जैसा नहीं है, जिसने बहुत बड़े व्यवसायी की भाँति अचानक एक क्षण में ही बहुत दूर के वायदे का सौदा कर लिया है। आज की शृंखला से बाँधकर उसने बहुत दूर के भविष्य को आज ही आज कर दिया ! ऋषियों ने ब्रह्मा का, अर्थात् सृष्टिकर्ता का, एक दिन कल्पान्त तक फैला हुआ बताया है। जो जितना बड़ा है, उसका एक दिन उतना ही बड़ा होना चाहिए। मेरे बड़प्पन की मात्रा मुझे कैसे लाँघ सकती थी ? मेरे तीन दिन की निष्फलता इस एक दिन की सफलता के साथ सम्बद्ध है। अतएव अपनी हैसियत के अनुसार इन चार सूर्यास्तो का एक ही दिन मानकर, आज मै अपने को कृतार्थ समझूँगा।

फाल्गुन
१९९१

बाल्य स्मृति

वह मेरी पहली मौलिक कल्पना थी। बड़े बड़े पण्डित और बड़े बड़े कर्मठ भी जिस समस्या का समाधान जीवन भर नहीं कर पाते है, सुनिए, निरे बचपन मे उसे मैंने किस विचित्र रीति से सुलझाया था।

महालक्ष्मी के पूजन के लिए घर में प्रति वर्ष कुम्हार के यहाँ से एक मिट्टी का हाथी आता था। आज भी आता है और अब मैं उसे देखने भी नहीं जाता। परन्तु उस समय तो मुझे वह पागल ही कर देता था। उसे देखकर एक दिन मेरे मन मे एक अद्भुत भावना का उदय हुआ। सभी जानते हैं कि हाथी और चिउटी में एक-सा ही जीव है। इन दोनो के विराट और सूक्ष्म आकर किसीको धोखे में नही डाले रह सकते। इस तत्व की सहायता से संसार में एक क्रान्तिमूलक परिवर्त्तन करने की बात मुझे सूझी। मैंने सोचा, इस हाथी के पेट में एक चिंउटी पहुँचाकर आवागमन के सभी द्वार मिट्टी से अच्छी तरह बन्द कर दूँ तो क्या हो? उत्तर मेरे लिए बहुत सीधा था; मेरी उस अवस्था से भी अधिक सीधा और सरल। चिंउटी की आत्मा अपने शरीर से मुक्त होकर हाथी के भीतर बैठ जायगी और वह सजीव हो उठेगा! जीव को बाहर निकलने के लिए सन्धि न मिलेगी तो इसके अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है। पार्वती माता ने मिट्टी के पुतले से गणेशजी की प्राण प्रतिष्ठा की

थी। मेरा वह हाथी "गणानां गणपति" बन जायगा, यह मैंने नहीं सोचा था। वह सजीव हो जायगा, यही मेरे लिए बहुत था। अपने इस नये आविष्कार से मेरा बाल-हृदय एक साथ उछल उठा। जब यह छोटा-सा हाथी अपनी छोटी-सी सूँड़ हिलाता-डुलाता इस आँगन में डोलने फिरने लगेगा, तब सब कहीं कैसी धूम मच जायगी, कितना बड़ा कौतुक होगा वह!

साहित्य की मिट्टी लेकर उसमें प्राण-संचार करने की बात कुछ इसी तरह आज भी मेरे मन में चल रही है। कह नहीं सकता, इसी तरह कब तक चलती रहेगी। उस समय तो मेरा वह मिट्टी का हाथी मिट्टी का ही बना रहा। उल्लास उत्पन्न करने वाली अनेक कवि-कल्पनाओं की भाँति, वह प्रथम कल्पना भी रचना मे पूरी नहीं उतर सकी। सोचता हूँ, अच्छा ही हुआ। यदि उस समय वह हाथी सजीव हो जाता, तो बढ़कर आज इतना बड़ा हो गया होता कि घर में कहीं उसे बाँधने तक के लिए ठौर न मिलता!

लक्ष्मी का राजवाहन घर में बाँध रखने के पहले लक्ष्मी का आवाहन ही मेरा पहला काम होना चाहिए था। यह न जानकर भी उसी समय मेरा ध्यान इस ओर गया। लक्ष्मी को प्रसन्न कर लेने की एक युक्ति अनायास मुझे मिली। किससे मिली, अब ठीक याद नहीं है। विज्ञजन तत्व की वैसी बात जानकर जिस तिसको बताने लगें, यह असम्भव है। मैं समझता हूँ, उस विषय में मै अपने किसी तत्कालीन समवयस्क का ही ऋणी हूँ।

मै नहीं चाहता, उसे छिपा जाऊँ। लक्ष्मी का वह अटूट भंडार किसी लता के छोटे टुकड़े मे सुरक्षित था। बस उसीको खोज लेना चाहिए। लता वह होनी चाहिए ऐसी, कि वृक्ष पर बायें से दाँये गई हो। मुझे उसमे यह गुण बताया गया था कि जिस वस्तु के नीचे उसे रख दिया जायगा, कितना ही खर्च किये जाने पर वह चुकेगी नहीं। ऐसो वस्तु के सहारे दस-पाँच रुपये की थैली में से निकाल निकालकर लाखों तक खर्च किये जा सकते हैं!

आसपास के बाग-बगीचों में इस लक्ष्मी-लता की खोज करने मै निकला। कितने ही लताकुंज देख डाले। कितने ही छोटे-बड़े वृक्षो के निकट खड़े होकर खुली साँस ली। घर के बाहर का भाग भी इतना सुन्दर है, इसका अनुभव पहले पहल तभी हुआ। कुछ दोहे-चौपाइयाँ कण्ठस्थ थीं, चलते-जाते उन्हें गुनगुनाया। उनकी कविता हृदय के किसी अज्ञात प्रान्त में मेरे विना जाने झंकृत हो उठी। उस समय मुझे पता तक नही चला कि लक्ष्मी की ओर जाते-जाते अचानक सरस्वती की ओर उन्मुख हो गया हूँ। लक्ष्मी-लता की मेरी खोज जैसे कुछ शिथिल पड़ गई। फिर भी कई लताएँ तोड़ तोड़कर देखी। कुछ लताओं को उनकी स्वाभाविक गति के विपरीत मोड़कर उन्हें दो एक दिन में अपने काम के अनुरूप कर लेने की युक्ति लड़ाना भी मै नहीं भूला। लताओ की परीक्षा घर लौटकर करता था। मेरे पास दस-पाँच रुपये की एक निजी थैली थी।

परन्तु उसके नीचे उन लताओं को रख कर उनके गुण-दोष की जाँच करना मैंने ठीक नहीं समझा। अस्त्र-चिकित्सा की साधना का काम केले के छिलके अथवा ऐसे ही किसी पदार्थ के ऊपर करना निरापद समझा जाता है। मैंने भी उस समय इसी समझदारी से काम लिया। अपनी प्रयोगशाला में भरा हुआ लोटा लताओं के ऊपर रख देता और पानी नीचे ढरकाने लगता। लताओं के लिए लज्जा की बात होने पर भी यहाँ अब यह मुझे कहना पड़ेगा कि उनमें से किसीमें वह शक्ति न निकली, जिसके कारण लोटा सदैव भरा का भरा रह जाता।

मेरा मिट्टी का हाथी मिट्टी का ही बना रहा, उसमें प्राण-संचार नहीं हो सका; मेरा पीतल का लोटा पीतल का ही बना रहा, उसमें से अक्षय निर्झरधारा नहीं वह सकी। परन्तु प्रसन्नता की बात है, इस बार मेरे हाथ एक दूसरी वस्तु आ गई। उस वस्तु की परीक्षा आज भी मेरे द्वारा चलती जा रही शंका की बात इतनी ही कि दो दो असफलताओं के साथ है। बाग-बगीचो के लताकुंजों में कण्ठस्थ दोहे की निस्संकोच आवृत्ति करते-करते एक दिन ऐसा कुछ कविता करना बहुत आसान है। अनेक दोहे मैंने उसी समय कर डाली। कुछ नये छन्द होकर मेरे मुख से निकल पड़े। जोर -इनसे भी हृदय मे वही आनन्द उठता है, में था। मेरी वह कविता लिपि-बद्ध न

हो सकी। कुएँ के पानी की तरह परिश्रम से खींचकर उसे किसी पात्र मे भर रखने की आवश्यकता थी भी नहीं। प्रति पल बहते हुए उस ताजे निर्झर-नीर से किसी समय भी तृप्त हुआ जा सकता था। अर्थ का बोझ लेकर वह नहीं चली थी। इसी कारण अपने में से कुछ खो जाने की चिन्ता उसे छू तक न सकी।

अपना यह आनन्द अपने तक ही सीमित रखना बहुत कठिन होता। छन्दों का वह प्रवाह एक बार, दो बार, और बार-बार बाहर निकलकर दूर दूर तक फैलने के लिए उतावला हो उठा। उन दिनों मेरे एक समवयस्क सम्बन्धी आकर मेरे क्रीड़ा-सहचर बने हुए थे। कविता करने की वह सरल विधि पहले-पहल उन्हींको मैने सुनाई। उन्होंने कोई आश्चर्य प्रकट नहीं किया। बोले—"ऐसा ही मुझे भी होता है। स्नान करके जब मै हनुमान-चालीसा का जुबानी पाठ कर चुकता हूँ, तब नई नई चौपाइयाँ इसी तरह मेरे मुख से भी निकलने लगती है।" उनके लिए कविता करना मेरी अपेक्षा भी सहज निकला। उनमें प्रतिभा की मात्रा मेरी अपेक्षा अधिक थी, यह बात मुझे बहुत दिनों बाद मालूम हो सकी। एक बार वे अच्छी तरह पागल हो चुके है। पागलपन और प्रतिभा का निकट सम्बन्ध एक माना हुआ तथ्य है। मालूम नही, यदि कभी मेरी प्रतिभा इस उच्च कोटि तक पहुँची हो। इसका पता मेरी अपेक्षा मेरे मित्रो को अधिक होगा।

इसी समय के आसपास भैया की कोई कविता किस पत्र में छपी हुई देखने को मिली। कविता क्या थी, किस विषय से उसका सम्बन्ध था, यह मुझे कुछ याद नहीं। कोई कहना चाहे तो कह सकता है, उसे ठीक ठीक मैं पढ़ भी नहीं सका। पर हाँ, नीचे छपा हुआ लेखक का नाम मैंने पढ़ा था; एक दो बार नहीं, बीसियों बार। मेरे लिए उस नाम में ही कविता का समस्त माधुर्य जैसे निचोड़कर भर दिया गया हो। वह नाम भैया का था, और किसीका नहीं। नाम के साथ ठिकाना भी लिखा हुआ था। ऊपर से किसीके द्वारा हाथ से लिखा हुआ नहीं, छापे के अक्षरों मे ही छपा हुआ। उस नाम में "शरण गुप्त" तो मेरा निज का ही था। आधे से अधिक नाम का गौरव मुझे अपने आप तत्काल मिल गया। अखबार में इस तरह छपने का गौरव उस समय मेरे और किसी परिचित के भाग्य में न था। मैं बहुत ही प्रसन्न हो उठा। मैंने घर के एक पुराने कर्मचारी को भैया की वह कविता और उसके नीचे छपा हुआ उनका नाम हुलसकर दिखाया। मुझे विस्मय हुआ, वे बहुत उत्साह प्रकट नहीं कर सके। बोले—अखबार वाले को कुछ देना पड़ा होगा। मुझे बुरा मालूम हुआ। कुछ दे दिलाकर भैया ने अपनी कविता छपाई है, यह बात कुछ खटकने वाली जान पड़ी। तीव्र शब्दों में तत्काल मैंने उनका प्रतिवाद किया।

ऐसा होते हुए भी एक बात तो थी। कुछ दे दिलाकर भी मेरी कविता उस समय किसी पत्र में छप सकती, तो अपने

लिए इसमें मुझे कोई हिचक न होती। अखबार के किसी कार्यालय में मेरे नाम से कविता लिख देने की फीस भी यदि अलग से चाही जाती, तो इसके लिए भी उस समय मै सहर्ष तैयार हो सकता था। यह दूसरी बात है कि अधिक देने को शक्ति मुझमे न हो।

अपना छपा हुआ नाम देखने के लिए मै वेतरह उत्सुक हो उठा। मदरसे के दूसरे दरजे मे उस समय मेरी पढ़ाई चल रही थी। जो पाठ्य पुस्तक निर्धारित थी, उसमे कही मुझे अपना नाम नहीं दिखाई दिया। मेरे लिए यह असन्तोष की बात थी। इस असन्तोष का एक विशेष कारण है। रहीमवख्श नाम का मेरा एक सहपाठी था। उसके लिखे हुए कितने ही दोहे पुस्तक मे छपे थे! "काकी महिमा ना घटी पर-घर गये रहीम" को अन्तिम पद पर जोर देकर वह पढता और प्रसन्न होता मेरी ओर देखकर। एक दूसरा साथी था छिमाधर। वह भी मुझे सुना सुनाकर पढ़ता—"जाके हिरदें है 'छमा' ताके हिरदें आप।" निराश होकर पुस्तक के पन्ने मै भी उलटता। ढूँढ़-खोज कर "राम" का नाम उन्हे दिखा भी देता। राम नाम की महिमा अपार है, मैं मानता हूँ। परन्तु उस समय तो सीता माता ही मेरी लाज रख सकती थीं। मै हतप्रभ हो उठता। लाचार होकर कहता—मेरा नाम 'रामायण' मे छपा है; यह पुस्तक भी कोई पुस्तक है! उदाहरण मुझे याद था—

"सियाराम मय सब जग जानी करों प्रनाम ...

इन चौपाइयो तक पहुँचने के लिए मै कितनी ही वार रामायण का पारायण प्रारम्भ कर चुका था। परन्तु मदरसे में रामायण ले जाना असम्भव था और मुझे हारकर चुप रह जाना पड़ता।

अब मेरे लिए आवश्यक था कि अपनी कविता मैं स्वयं लिखूँ। रामायण तक का प्रमाण न मानने वालों को विना इसके ठीक नहीं किया जा सकता था। लिखे हुए की सनद ही पक्की सनद है। एक दिन मैंने कहा,—आज मदरसे न जाकर घर पर ही कविता लिखूँगा। रविवार की छुट्टी तक इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए रुक रहना असम्भव था।

एक डर था। कोई कहीं पूछ बैठे कि आज पढ़ने के लिए क्यो नहीं गये, तब ? घर में किसीको पता न था कि आज मैं कितना बड़ा काम करने जा रहा हूँ! उस विषय मे किसीसे कुछ कह नहीं सकता था। कहता भी तो, मै जानता हूँ, किसीको उस कार्य की गुरुता में विश्वास न होता। बीमारी का बहाना करने का उपाय भी सामने न था। उस समय आज कल की भाँति किसी समय भी यह मेरी सेवा करने के लिए तत्पर न थी। छुट्टी मनाने के लिए आह्वान करने पर भी इसके दर्शन तक न होते थे। मैंने निश्चय किया, आज किसीके सामने पड़ूँगा ही नहीं।

दोपहर का भोजन करके घर मे अपनी अपनी जगह जब सब कोई आराम करने लगे, सब ओर ग्रीष्म की दोपहरी का सन्नाटा साँ साँ करने लगा, तब एक अँधेरे कमरे मे कागज

पेंसिल लेकर मैं लिखने बैठा। बैठ जाने पर पहली बात यह जान पड़ी कि जुबानी कविता कर लेना जितना आसान है, उसे लिखना उतना ही कठिन। कागज की बेड़ी पहनना भी जैसे उस सुकुमारी को सह्य नहीं। किसी तरह कुछ देर जमकर छः पंक्तियाँ उस दिन लिख ही डालीं। एक दोहा और चार पंक्तियों का एक दूसरा छन्द। लिखकर उस समय भी वही आनन्द हुआ, जो आज की अपनी किसी सुन्दर रचना को पूरा कर चुकने पर पाता हूँ। कविता लिखने का यही तो बड़ा सुख है। ऐसी कुछ प्रतीति हुई कि सरस्वती देवी ने अपने मन्दिर में भीतर चले आने के लिए आज्ञा दे दी है। उन पंक्तियों में वन्दना भी मैंने सरस्वती और गणेश की ही की थी। इन्हें उस समय मैं दम्पति-युगल समझता था। क्या ठीक, मेरी इस बालबुद्धि पर इन महान् देवताओं ने वात्सल्य पूर्वक उस दिन मेरी ओर हँस दिया हो! तुकें भी ठीक ठीक बैठ गई थीं। पहले दोहे के अन्त में 'कर जोर' और 'मोर' की तुकें बैठाकर ही मैंने समझ लिया था कि कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न होगया है। एक अच्छे कागज पर अक्षर कुछ बिगाड़ कर, पढ़े-लिखों के जैसी लिपि में कविता की प्रतिलिपि भी तत्काल कर डाली। भारी काम कर चुका था, इसलिए नाम में भी कुछ भारीपन लाकर नीचे लिखा, 'सीयराम कृत'। इस तरह उस दिन सब कुछ अच्छा ही अच्छा होता गया!

कविता तो तैयार हो गई, अब तैयार करने से भी कठिन एक समस्या सामने थी। वह थी, उसके प्रकाशन की बात। कविता लिखना ही व्यर्थ था, यदि वह कवि के बस्ते के भीतर ही बन्द रहकर बाहर के प्रकाश से वंचित रहती। मदरसे के सहपाठियों की बुद्धि पर से मेरा विश्वास उठ गया था। वैसी अरसिक मण्डली मेरी कविता समझेगी भी, इसमे मुझे पूरा सन्देह था। भैया की कविताएँ अखबार वाले बिना कुछ भेंट लिये ही छापा करते थे। अतः मेरी कविता की गुण-परीक्षा उन्हींके द्वारा हो सकती थी। परन्तु वह उन्हे दिखाई जाय तो कैसे ? इस समस्या की पूर्ति मेरे लिए भारी हो उठी। बहुत लोग मेरे इस संकोच को समझ न सकेंगे। अपनी नववधू के सम्बन्ध में बड़ों से चर्चा करने मे हिन्दू बालक, बालक क्या तरुण भी जिस संकोच का अनुभव करता है, वैसा ही कुछ मुझे भी था। आज भी मैं उसे पूर्णतः दूर नहीं कर सका हूँ। 'आर्द्रा' की समस्त कविताएँ लिखने के समय तक उन्हें दिखाकर ठीक कराने के लिए मुझे बहुत कुछ ऐसी ही झिझक उठानी पड़ती रही है। बहुत सोच-विचार के बाद एक युक्ति निकली। ऐसी अच्छी कि थोड़े-से सामयिक हेर-फेर के साथ, अभी कुछ ही समय पूर्व तक उसे ही मैं बर्तता रहा हूँ। भैया की अनुपस्थिति में अपनी वह कविता उनकी बैठक के पास छोड़कर, चुपचाप मैं वहाँ से खिसक गया !

यह कठिन प्रतीक्षा का समय था। बाहर के सम्पादकों के पास अपनी रचनाएँ भेजकर उनकी स्वीकृति का पत्र पाने के

लिए, बाद में जिस बेचैनी का अनुभव मुझे बहुधा करना पड़ा है, उसका पहला परिचय मुझे घर में ही पहली बार हुआ। जानें कितने दिन आये और चले गये, पर मुझे पता नहीं पड़ा कि मेरी रचना यथास्थान पहुँच गई है। हो सकता है, उसे पोस्ट करने की मेरी विधि में ही कोई खराबी हो। पर उनका भी कुछ दोष होना चाहिए। उन दिनों सम्भवतः उनके भीतर का तरुण कवि जागकर उठ बैठा था। कवि में यही एक बड़ा दोष होता है कि जाग उठने पर वह अपने भीतर का ही देखना-सुनना पसन्द करता है, बाहर से जैसे उसे कोई सरोकार नहीं रहता। धीरे धीरे मुझे विश्वास जमने लगा कि वह रचना नामंजूर हो गई है। सन्तोष और सुख की बात इतनी थी कि किसी सहपाठी को मेरी इस असफलता का पता न था।

उस दिन मेरा सौभाग्य अचानक मेरे अनुकूल दिखाई दिया। मेरे द्वितीय अग्रज नंना मेरे ऊपर प्रसन्न हुए, मेरी सेवा-परायणता से। सेवा मेरी इतनी थी कि आवश्यकता पड़ने पर दौड़कर मैं पानी का गिलास भर लाता था, पान लगाने में कत्थे-चूने का अनुपात ठीक रखता था और जब मुंशीजी की मर्जी हुई तो उनके लिए शरबत बनाकर भीतर से लाने में भी देर न करता था। मेरी प्रशंसा हो चली। नंना ने कहा—ऐसा-वैसा नहीं, सियाराम कवि भी है। भैया ने कहा—अच्छा! मुंशीजी ने भी प्रसन्नता प्रकट की। मैं अपराधी की भाँति सामने संकुचित खड़ा था। मुझे आज्ञा मिली,—मैं अपनी कविता ले आऊँ।

कविता देखकर भैया ने कुछ विशेष प्रसन्नता प्रकट की हो, ऐसा नहीं जान पड़ा। नाखुश नहीं हुए, यही मुझे बड़ी बात जान पड़ी। उन्होंने कई भूलें उन छः पंक्तियों के भीतर ही खोज निकालीं। पास बैठ कर समझाया। पूछा—छन्द की मात्राएँ गिनना जानते हो? दोहे की एक पंक्ति में चौबीस होती है। क्या मुसीबत की बात थी, हिसाब-किताब यहाँ भी आ पहुँचा। मदरसे में कभी कभी चार हिसाबों में से पाँच तक मेरे गलत निकल आते थे! भाषा एवं दूसरे विषयों के कारण ही मैं वहाँ अपनी प्रतिष्ठा बनाये था। मात्राएँ गिनना भला मुझे कहाँ से आ सकता था। तब यह विधि मुझे समझाई गई।

अब संशोधन की बारी थी। एक दूसरे कागज पर भैया ने थोड़ी ही देर में मेरी कविता अपने हाथ से लिखकर मुझे दी। देखा, इन पंक्तियों में मेरा अपना क्या है? वह न होने के बराबर था। पूरी कविता कुछ की कुछ हो गई थी। उसमें मेरा अपना कुछ नहीं था कि जिसके बल पर मैं साथियों में घमण्ड दिखा सकता। तुकें मेरी अपनी रहतीं, तब भी कोई बात थी। जिन तुकों को मिलाकर कविता लिखते समय मुझे अपने कवित्व का प्रथम गौरव-बोध हुआ था, वे तक हटा दी गई थीं। सब मिलाकर मैंने अनुभव किया, प्रारम्भ कुछ बहुत ठीक नहीं रहा।

यहीं उस बचपन में मैंने पहली भूल की। मेरा प्रारम्भ बहुत ही शुभ हुआ था। मेरी कविता की मिट्टी का वह हाथी

उसी दिन सजीव हो गया था। प्रारम्भ में ही उन हाथों का प्रसाद पाकर मेरी रचना कुछ की कुछ हो गई है। वह प्रसाद निरन्तर मुझे प्राप्त है। उनके श्रीचरणो में मेरा नम्र प्रणाम पहुँचे, इन समस्त पंक्तियो की सबसे बड़ी बात यही हो।

भाद्र पूर्णिमा १९९३

साहित्य और राजनीतिक

एक प्रश्न उठ खड़ा हुआ है कि साहित्यकार की स्वतन्त्रता खतरे मे है। उसके लिए यह भय राजनीतिक की ओर से बताया जाता है।

कौन है, जिसे स्वतन्त्रता का अधिकार न हो? प्राणी जन्म से ही स्वतन्त्र रूप मे उत्पन्न हुआ है। हथकड़ी-बेड़ी के साथ कहीं कोई जन्मा हो, यह नहीं सुना। शरीरधारी के लिए ऐसी स्थिति स्वाभाविक होती, तो प्रकृति इसका प्रबन्ध भी कर सकती थी। मनुष्य स्वतन्त्र रूप में ही उत्पन्न होता है। इतना ही नहीं, इसके अनुरूप क्षेत्र भी उसे मिलता है। नदी और समुद्र आदि की छोटी-बड़ी कुछ रुकावटो के रहते भी यह पृथ्वी उसके चलने-फिरने के लिए छोटी नहीं पड़ती। कौन कहेगा कि पक्षी के लिए आकाश संकीर्ण है? पक्षी छोटा है, इसलिए आकाश के साथ साथ सहारे के लिए उसे पृथ्वी की

छूट भी दी गई है। अतएव यह निःस्संकोच कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता का अधिकार हमारा पक्का है।

साहित्य में भी अपना यह अधिकार हम छोड़ना नहीं चाहते। साहित्य का निर्माण प्रकृति नहीं करती, यह हमारी अपनी सृष्टि है। इसलिए स्वतन्त्रता की आवश्यकता यहाँ और अधिक है। स्वतन्त्रता पूर्वक उत्पन्न हो सकने के कारण ही साहित्य को इतनी रमणीयता मिल सकी है। वृक्ष इतना मनो-मोहक, इतना हरा-भरा और इतना सप्राण कभी न होता यदि उसे सब ओर से दीवार से घेरकर उसपर एक छत खड़ी कर दी जाती। यह बन्धन उसके लिए घातक होता। ऐसे भी पौधे हैं, जो गमले में घर के भीतर जी सकते है। वहाँ वे फूलते हुए भी देखे जाते हैं। परन्तु हैं वे पौधे ही। वृक्ष की ऊँचाई तक वे नहीं पहुँचते। साहित्य का स्वभाव भी वृक्ष के जैसा ही है। बाहर की कड़ी धूप और भयंकर वर्षा से बचने के लिए उसे अपने ऊपर किसी छत्र का संरक्षण नहीं चाहिए। उसके भीतर जो सतेज प्राण है, वह इस तरह की बाधाओं से ही अपनी खूराक जुटा लेता है।

साहित्य निस्सीम है। नदी, पहाड़ या समुद्र की कोई जड़-रेखा उसे अपने मे बाँधकर नहीं रख सकती। उसका प्रभाव मानव की हृदय-भूमि पर है। इसीसे भौतिक राज्य की भाँति, अपनी रक्षा के लिए उसे किसी जड़ पदार्थ का मुहँ नहीं जोहना पड़ता।

वह इतना व्यापक है, इतना विशाल है, इसीसे कभी कभी उसकी स्वतन्त्रता पर संकट भी आ पड़ता है। सत्ताधारियो के मन में लोभ होता है कि साहित्य उनको अधीनता में रहे, उसके द्वारा उनकी स्तुति का गान हो। फलतः जहाँ तहाँ दरबारी साहित्यको की सृष्टि होती है। राज्य का वैभव प्रदर्शित करने के लिए बड़े बड़े भवनो का निर्माण किया जाता है, छाँट छाँटकर देश-विदेश के हाथी-घोड़ो की सेना रक्खी जाती है और आवश्यक न होने पर भी अनेक बहुमूल्य आभूषण संगृहीत किये जाते है। इन्हीं विस्मय-जनक वस्तुओ मे ये दरबारी भी है। इनसे राज्य की शोभा बढ़ती है, किन्तु इनकी रचना साहित्य नही हो पाती। ये प्रतिभासम्पन्न होते हैं, विद्वत्ता भी इनसे किसीसे कम नहीं होती, तथापि इनको रचना यथार्थ साहित्य की श्रेणी में बहुत पीछे पड़ी रहती है। साहित्य के आकाश में किसो दरबारो ने सूर्य और चन्द्र का स्थान पाया हो, यह देखने मे नहीं आया। कालिदास? कालिदास को दरबारो कौन कहेगा। वे दरबारी होते तो ऐतिहासिकों को यह जानने के लिए इधर उधर न भटकना पड़ता कि उन्होंने किस विक्रमादित्य को अपने कारण गौरवान्वित किया था। दरबार के सीमित घेरे में उनकी लोकोत्तर प्रतिभा भी न पनपने पाती। कारण स्पष्ट है। दरबार-भवन के भीतर यथेष्ट हवा, पानी और प्रकाश का प्रबन्ध हो सकने पर भी वह स्थान साहित्य के अक्षय वट की प्रकृति के अनुकूल नही बैठता। वहाँ की मिट्टी

उसकी अपनी नहीं है। इसीलिए वहाँ रंग-बिरंगे गमले रखकर सन्तोष कर लिया जाता है।

राजतन्त्र की बात जानें दें, तो जनतन्त्र में भी दरबारी साहित्यिक दिखाई देते है। तन्त्र कोई हो, उसमें से राजस् भाव का लोप नहीं होता। राजतन्त्र मे जहाँ एक व्यक्ति के भीतर वह भावना अपनी पराकाष्ठा को पहुँचती है, वहाँ जन-तन्त्र में समाज का प्रत्येक व्यक्ति उसका थोड़ा बहुत अनुभव किये बिना नहीं रहता। इसमें जो गुण है, उसकी चर्चा यहाँ अभिप्रेत नहीं। जनतन्त्र का यह बहुव्यापी राजा भी वासना की पूर्ति में कही कहीं निरकुंश है। अपने भोग-विलास को ईंधन देने लिए इसने भी अपने आसपास बहुत-से लिखने वाले इकट्ठे कर लिए है। उसकी कुरुचि को सन्तुष्ट करने के लिए ही इनकी लेखनी चला करती है। ये पाठक के दरबारी हैं। इनकी रचना इसी कारण जूठे फूल की तरह साहित्य-देवता के मन्दिर मे नहीं पहुँचती।

साहित्यकार दरबारी होने से डरता है। उसका यह डर उचित भी है। वह जानता है, वैसे में उसे दूसरे की अर्चना करनी पड़ती है। और ऐसे में साहित्य का देवता अपने आप उपेक्षित होकर न जानें कहाँ अन्तर्धान हो जाता है, इसका पता तक नहीं लगने पाता।

यह सब बहुत स्पष्ट है। राजनीति से भी यह सब छिपा नहीं। फिर भी, यह सच है कि वह साहित्यिक से कुछ अपने

मन का चाहता है। साहित्यिक को यह ठीक नहीं जान पड़ता। उसे लगता है, जैसे घूँसा तानकर उसके पीछे खड़ा खड़ा, कोई आदेश कर रहा हो,—गान सुनाओ! कण्ठनलिकाएँ काम कर सकने की स्थिति में होने पर भी ऐसे मे संगीत की स्वर-लहरी फूट नहीं सकती। संगीत केवल कण्ठनलिकाओ से उत्पन्न नहीं होता। कण्ठ से अधिक वह हृदय की सृष्टि है। सच तो यह है, किसीका गला दबाकर उसे रुला तो दिया जा सकता है, किन्तु उसका संगीतरस नहीं लिया जा सकता।

राजनीतिक इस तरह की बुद्धिहोनता करेगा, इसपर विश्वास नही होता। बुद्धिमत्ता उसकी मुख्य विशेषताओं में से है। उसकी उपस्थिति से साहित्यकार की यह घबराहट उचित नहीं जान पड़ती। साहित्य बहुत बड़ी सम्पत्ति है, इस कारण भीरु और संशयालु धनिक की तरह, निकट आने वाले प्रत्येक जन को चोर या लुटेरा ही समझ बैठना हास्यजनक होगा।

कहा जा चुका है, साहित्य की प्रकृति स्वतन्त्र है। उस पर किसीकी जोर-जबरदस्ती नही चल सकती। परन्तु प्रत्येक सम्मति अथवा परामर्श को बलात्कार ही समझ बैठना भूल है। प्रायः होता यह है कि हम स्वयं अपने को समझ नहीं पाते। हम चाहे जितने सुरूप हो, बाहर का दर्पण आकर उसमे भी कुछ वृद्धि कर सकता है। यह दूसरी बात है कि हम उसकी उपेक्षा करें या उसका अनुरोध मान लें। यदि मान लेंगे तो इससे हमें लज्जित होने का कारण नहीं जान पड़ता। दूसरे की बात

होने पर भी उसे मान लेने भर से वह हमारी अपनी हो जाता है। स्वतन्त्रता का अधिकार हमारा अखण्ड है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सब ओर से हमे अपने आँख-कान मूँद लेने चाहिए। यदि हम यह समझते हों कि चारों ओर हमारे विरोधी ही विरोधी हैं, तो वास्तव में स्वतन्त्रता के अधिकारी हम हैं ही नही। उस अवस्था में स्वतन्त्रता हमारे लिए परतन्त्रता से अधिक भयानक होगी। हमे बाहर की सदाशयता पर विश्वास है, इसी कारण स्वतन्त्रता का मूल्य हमारे निकट इतना अधिक है। साहित्यकार को भी विश्वासपरायण होना होगा।

साहित्यकार अपने ही सुख-दुःख का ताना-बाना लेकर, जहाँ अपने ही लिए अपने गान का मोहक जाल बुन रहा है, वहाँ पहुँचकर राजनीतिक कहता है—तुम यहाँ किस जगह हो ? यहाँ तुम्हारे इस श्वेतों के समाज में हम काले लोग प्रवेश नहीं कर पाते। आओ, बाहर निकलकर देखो। वह इतनी बड़ी मानवता उत्पीडित होकर भय से, अत्याचार से, और सबसे बढ़कर अपमान की असह्य लज्जा से मूक होकर खड़ी है। उसे तुम अपना कण्ठस्वर दो ! इस विलासगृह को अपेक्षा वहाँ तुम्हारी आवश्यकता अधिक है।

राजनीतिक सैनिक है, इसीसे उसके इस अनुरोध का छन्द कर्कश-सा जान पड़ता है। उसमें वीर-कविता का कवित्व भी दिखाई नहीं पड़ता। न वह कवि है, न रसिक। इसीसे साहित्यकार उसके कहने से "रसत्व-निवेदन" के लिए तैयार नही जान

पड़ता। कहता है, जनता मूर्ख है और जानवर के आगे बीन बजाना व्यर्थ होगा।

जनता मूर्ख है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। परन्तु साहित्यकार यदि बीन बजाना जानता है, तो इसका प्रमाण उसे जानवर को रिझाकर ही देना होगा। जानवर भी इतना रसिक प्राणी है कि सच्चे संगीत के लिए अपना सिर तक कटा देने मे उसे हिचक नहीं होती।

साहित्यकार सोचता है, राजनीति क्षणजीवी है; आज है, कल नहीं। मैं क्यों उसके पीछे अपने भविष्य का सुख भङ्ग करूँ। मेरा प्रयत्न आज के लिए नही है। मेरे कण्ठ में चिरकाल की वेदना का अमृत लहरा रहा है!

राजनीतिक इतना क्षुद्र नहीं है, जो साहित्यकार की इस महत्ता से आनन्दित न हो। फिर भी, उसका कहना है कि आज का यह अंश भी चिरकाल के बाहर का नही है। इस क्षण में इस क्षण का आलाप करने से गायक की चिरन्तन कला कुण्ठित नहीं होगी। समय के छोटे छोटे खण्डो के लिए न जानें कितने राग, न जानें कितनी रागनियाँ अपने कण्ठ में धारण करके ही संगीत महत् हो सका है। एकस्वरता में ही बँधकर न जानें वह कितना छोटा हो जाता। साहित्य की सरस्वती के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है। उनकी वीणा का ठाठ केवल एक होकर नहीं रह गया है। उसमे अनन्त छन्द है, अनन्त स्वर-लहरियाँ है। चिरन्तन काल वहाँ इसीसे अपनी पलायन-पटुता

भूल गया है, मुग्ध होकर जहाँ का तहाँ एक जगह बैठा है !

छोटे-बड़े का भेद स्वाभाविक है। एक राजा का राज्य आध कोस में समाप्त हो जाता है, दूसरे का पूरे एक देश में भी नहीं चुकता। राजा दोनों हैं, अपनी अपनी सीमा में दोनों के अधिकारों में भी अन्तर नहीं है। परन्तु इसी कारण पहला दूसरे की बराबरी प्रत्येक बात में करने पर तुल जाय तो यह मूर्खता की ही बात होगी। क्या प्रत्येक साहित्य-सेवी अपने को कालिदास और भवभूति ही समझकर चलना चाहेगा ? उसमें ऐसे दम्भ से बचने का विवेक होना चाहिए। वह कहता है, मेरे हाथ मे अनन्त काल का अमृत है ! अच्छी बात है। ऐसा है, तो इसका अनादर नहीं होना चाहिए। परन्तु उसके इस अमृत ने, आँख के सामने ही मर रहे इस छोटे क्षण को अमरत्व नही दे पाया, तो आगे के लिए उसका भरोसा करने कौन बैठा रहेगा ?

साहित्यकार अपनी ऊँचाई पर रहना चाहता है। उस ऊँचाई पर भी अभिनन्दन करने वाले पहुँचेंगे। ऐसे पुरुषो का एकदम अभाव नही है, जो हिमालय के उच्च तीर्थ की यात्रा के लिए चल पड़ते हैं। ऊँची-नीची चोटियाँ और छोटे-बड़े गर्त उनके लिए भयोत्पादक नही होते। वे बढ़ते जाते है, इस तरह बढते जाते हैं कि अभी जीवन की सीमा में हैं और अभी अभी मृत्यु के द्वार पर। सब तरह के संकटो के बीच में उनका मार्ग निकलता ही आता है। वे समस्त बाधाएँ, वे सम्पूर्ण क्लेश, वे समग्र संकट उनके

लिए मंगलमय हो उठते हैं, जब भागीरथी की उद्गमधारा अपने दर्शनों से उन्हें कृतार्थ कर देती है। ये पुरुष वन्दनीय है, अतएव विरल हैं। सब कोई इनकी बराबरी नहीं कर सकते। परन्तु हममे उतना बल या सामर्थ्य नही है, इस कारण भागीरथी माता क्या हम सबकी उपेक्षा कर देंगी? क्या उस समय तक वे वहीं अपने उच्च शिखर पर बैठी रहेंगी, जब तक हममें वह बल या सामर्थ्य अपने आप उत्पन्न न हो जाय? ऐसा उन्होने किया नहीं है। यह सोचने तक का अवसर उन्होंने नहीं लिया कि नीचे की मिट्टी उनमें ऊपर जैसी निर्मलता न रहने देगी, और उन्होने वेग के साथ अपने को नीचे की ओर प्रवाहित कर दिया है। हमारे लिए, हमारे रहने के स्तर के नीचे तक आ गई हैं, इससे उनकी वह उच्चता भङ्ग नहीं हुई। वे नीचे उतर आई है, केवल इसी कारण हममे से अनेकों में यह साहस उत्पन्न हुआ है कि कभी कभी अपने को उस उँचाई तक पहुँचाकर वहाँ का वह दुर्लभ सौभाग्य भी प्राप्त करें। इसीसे राजनीतिक पूछता है कि साहित्य की सरस्वती माता क्या ऐसा नहीं कर सकतीं? वे अपने हिमालय की उँचाई पर ही चिरकाल पधारी रहें, यह उनकी महत्ता के अनुरूप दिखाई नहीं देता।

राजनीतिक ने कुछ ऐसी बात देखी है, जिसका काँटा उसके हृदय में जाकर चुभ गया है। साहित्यकार के आँख और कान दूसरी ओर न होते तो अपने स्थान से वह भी उस दृश्य को देख सकता था,—वहाँ का चीत्कार तो कम से कम

सुन ही सकता था। इसीसे यह राजनीतिक यहाँ दौड़ा आया है। हो सकता है, ऐसे में वह साहित्यकार की मर्यादा का ध्यान न रख सका हो। हृदय की तीव्र वेदना से वह व्याकुल हो उठा है। वह कहता है—क्या देखते नहीं हो, अत्याचार के व्याध ने वह कितना अनर्थ कर डाला है ? तुम्हारे आदि पुरुष की करुणा को एक क्रौञ्च पक्षी ने उद्वेलित कर दिया था। यहाँ तो गिनती तक नहीं की जा सकती। मैं यह दृश्य देख नहीं सकता। मेरे हृदय मे शोक तो है, परन्तु उस शोक को 'श्लोकत्व' देने की शक्ति मुझमें नहीं। आओ, तुमसे कुछ हो सके तो सहायता करो !

अब देखना यह है कि इसका कैसा उत्तर उसको मिलता है। राजनीतिक स्वतन्त्रता का योद्धा है। स्वतन्त्रता का मूल्य उससे छिपा नहीं। साहित्यकार स्वतन्त्र भाव से उसका सहयोगी हो, तभी उसे सन्तोष होगा। बने हुए दरबारी से उसका समाधान नहीं हो सकता।

फाल्गुन १९९३

मुंशीजी

एक बालक सेजगाड़ी में बैठकर अपने पिता के साथ कहीं जा रहा था। उसके मन में क्या था, कौन जानें। पिता ने

अपने सामने से पंखा उठाकर एक ओर रक्खा था कि बालक ने उसे फिर जहाँ का तहाँ रख दिया। एक बार हुआ, दो बार हुआ, और तीसरी बार भी फिर वही बात। तब पिता ने बालक को गहरी डाँट बता दी। बालक सहन न कर सका। काँपते हुए खड़े होकर उसने कहा—घर से तो फुसला फुसलाकर लाये थे और अब यहाँ नाराज होते है! रोको गाड़ी, मैं यहीं उतरूँगा। पिता ने कहा—रोक दो गाड़ी, उतारो इसे यहीं। गाड़ी जंगल में होकर जा रही थी। सब ओर निर्जन ही निर्जन था। दुःख और क्रोध मे सब कुछ भूलकर बालक वही उतर पड़ने के लिए तैयार हो गया। ऐसे समय साथ बैठे हुए एक अन्य युवक ने बालक को पकड़कर अपनी गोद में ले लिया। उसके आँसू पोंछे, पीठ थपथपाई, मधुर सान्त्वना दी। यह युवक और कोई नहीं, श्रद्धेय मुंशीजी (राजकवि श्रीअजमेरी) थे और वह बालक इन पंक्तियो का यही लेखक।

यह घटना इतनी पुरानी है कि स्वयं मुझे याद न थी। मुंशीजी ने ही इसे सुनाया है, गोष्ठियो में बार बार ऐसे रोचक ढंग से सुनाया है कि अब मेरे लिए यही उनकी पहली स्मृति हो गई है।

मुंशीजी हमारे परिवार के ही अंग थे। फिर भी मुझे उनकी पहली बात उस समय की याद है, जब मै कवि बनने के लिए आतुर हो रहा था। दोहे में चौबीस मात्राएँ होती हैं, इसकी शिक्षा मुझे भैया से मिली थी। परन्तु केवल दोहे

लिखकर मेरी आत्मा तृप्त कैसे होती ? एक दिन मैंने पता चलाया कि संस्कृत के वसन्ततिलक छन्द मे चौदह अक्षर होते हैं, मात्राएँ गिनने की आवश्यकता वहाँ नहीं। मेरे लिए यह खोज कम न थी। खोज का उपयोग भी उसी समय कर डाला। कई वसन्ततिलक लिखकर मुंशीजी के सामने रख दिये। देखकर उन्होंने पूछा—यह छन्द क्या है ? मैं संकुचित हो गया। डरते डरते मैंने उत्तर दिया—वसन्ततिलक। वसन्ततिलक में चौदह अक्षर होते हैं। मुंशीजी ने अक्षर गिनने की आवश्यकता नहीं समझी। कहा—चौदह अक्षर होने से ही वसन्ततिलक नही होता। अक्षर एक क्रम से बिठाने पडते हैं। तुम्हारा यह छन्द तो कुछ नही हुआ। इसके बाद उन्होंने मेरी गलती मुझे समझा दी।

कवि बनने की मेरी लालसा तीव्र हो रही थी। सीखने के लिए सुयोग भी मेरे पास था। परन्तु सुयोग के साथ असुविधा न थी, यह नही कह सकता। यह वांछनीय न था कि घर मे सब कवि ही कवि हो जायँ। होना चाहें तो हो कैसे सकते हैं। मेरे लिए प्रबन्ध किया गया कि मै रोकड़-बही का काम सीखूँ। मेरा मन वहाँ भागा-भागा रहता। सोचता कि कब मौका मिले और मैं भागूँ बचूँ। एक दिन ऐसे मे मुंशीजी की चपेट में आ गया। मै निश्चिन्त होकर जोर जोर से किसी कविता की आवृत्ति कर रहा था। जोर जोर से इसलिए कि कविता केवल मन के उपभोग की वस्तु नहीं है। चुपके चुपके रसना तृप्त

होती हो तो कान क्यों न चाहें कि वे वंचित न हो। इसी जीभ और कान के अति लोभ ने उस दिन धोखा दिया। मुंशीजी ने डाँटकर कहा—जब देखो, तब यही काम! जो बताया जाता है, वह क्यो नहीं करते? अब इस तरह पाया तो पिटोगे। मुंशीजीने कौटुम्बिक हित की दृष्टि से ही डॉटा था। उनका डाँट देना दूसरे के पीटने के बराबर था! इसका उन्हें पूरा अधिकार भी था। परन्तु मुझे बुरा मालूम हुआ। मैं उनसे बचने की चेष्टा करता। फिर भी बचता कहाँ तक? जब कुछ लिखता तो सम्मति और संशोधन के लिए उन्हींके पास जाना पड़ता।

उस समय की अपनी उस कविता-कृति की बात सोचकर अब आज हँसी आती है। इस समय वह किसी तरह प्रकट हो पड़े, तो कह नहीं सकता, लज्जा से कितना नीचे गड़ जाऊँ। आज मैं भी चाहूँगा कि वैसे कवि से कविता की रक्षा करके उसे रोकड़-बही के काम में लगा देना ही अच्छा है। पर ढीठ लड़के पर बातो का असर कब होता है। उन्हीं दिनों कवि पोप के बचपन की एक बात मैंने सुनी थी। पोप के पिता उसे कविता लिखने के लिए रोकते थे। आर्थिक दृष्टि से पुत्र के लिए यह काम आशाजनक न था। एकदिन पिता ने बालक को कविता करते समय जा पकड़ा। जब बालक की पीठ पर बेंत पड़ने लगे, तब उसने कहा–क्षमा कीजिए पिता, क्षमा कीजिए; अब मैं कविता न लिखूँगा। पिता ने निराश होकर कहा—यह तो छन्दोबद्ध कविता में ही

बोल रहा है! मुझे यह बात बहुत रुची। उसी तरह पिटने के लिए किसी दिन की कल्पना किये बिना मैं भी न रह सका। भाग्यवश वह विपत्ति कभी सामने नहीं आई। भाग्यवश इसलिए कि यदि कभी वैसा प्रसंग आता तो, मैं समझता हूँ, आँसू तो मेरी आँखों से बहुत निकलते, किन्तु कविता की एक पंक्ति निकलना भी असम्भव-सा था।

उन्हीं दिनों की एक बात बहुत याद आती है। मेरे किसी शब्द या प्रयोग पर मुंशीजी ने आपत्ति की—यह अशुद्ध है। मैंने कहा—ऐसा तो श्रीधर पाठक ने भी लिखा है। मुंशीजी ने उत्तर दिया—उन्होंने लिखा है तो अशुद्ध लिखा है। नकल किसीकी मत करो। पाठकजी के गुण तो तुम ला नहीं सकोगे, दुर्गुण ही दुर्गुण तुम्हारी रचना में आ जायँगे।

मुंशीजी को स्वच्छता का बहुत खयाल था। वह भीतरी हो या बाहरी। भैया के साथ मेरी कविताओं में भरपूर संशोधन तो वे करते ही थे, पत्र-पत्रिकाओं के लिए भेजते समय उनकी प्रतिलिपि भी प्रारम्भ में बहुत दिनों तक उन्हींको करनी पड़ती थी। मुंशीजी जब मेरी कविताओं की प्रतिलिपि कर देते थे, तब मुझे ऐसा लगता था, जैसे वह मेरी रचना न हो। संशोधन के लिए भैया उन्हें रोकते थे कि ऐसा न करो, जिसमें यह रचना तुम्हारी ही हो जाय। मुंशीजी का विचार कुछ ऐसा था कि संशोधन योग्य स्थल पर कलम न चलाना काहिली है। फिर भी उन्होंने एक बार कुछ कम कलम चलाई।

कविता भी कुछ लम्बी थी। 'वीर-बालक' के नाम से वह 'गृहलक्ष्मी' में प्रकाशित हुई। उसे देखकर आचार्य द्विवेदीजी ने भैया को लिखा कि आपके नाम से यह कविता मैं 'सरस्वती' में दे दूँ? याद रखने योग्य कदाचित् यही पहली प्रशंसा मुझे अपने साहित्यिक जीवन में मिली। भैया ने उत्तर में लिखा— मैं यह उचित नहीं समझता। वह रचना मेरी नहीं है। बाद में भैया ने और मुंशीजी ने फिर उसका संशोधन किया। पूज्य द्विवेदीजी भाषा-परिष्कार का ध्यान बहुत रखते थे। कविता 'सरस्वती' के गौरव के प्रतिकूल न पड़े, इसलिए यह पुनरपि संस्कार आवश्यक समझा गया। पहले छपी हुई कविता पर ही ये नये संशोधन करके उसे भेजते समय मुंशीजी को यह सन्तोष हुआ था कि अब द्विवेदीजी महाराज भी देख लेंगे कि यह कविता पहले वैसी थी और हो गई है अब ऐसी। पूज्य द्विवेदीजी को यह बताना न होता तो मुंशीजी वह कटी-कुटी प्रति कदापि न भेजते। इस सम्बन्ध में मेरी इच्छा और अनिच्छा का कोई सवाल न था। किसी एक जगह भी जरा-सा कट-कुट जाने पर फिर से पूरा का पूरा पृष्ठ लिखते उन्हें उस समय मैं बीसियों वार देख चुका हूँ।

मुंशीजी की इस प्रवृत्ति के कारण एक वार मुझे बहुत लज्जित होना पड़ा। मैं पहली वार स्वतन्त्ररूप से कानपुर गया था। जाना था मुझे काशी के लिए। परन्तु कहीं बीच में ही मैं किसी के द्वारा गुम न कर दिया जाऊँ, इसलिए घर से यह

प्रबन्ध किया गया था कि कानपुर में मैं श्रीगणेशशंकरजी के यहाँ सन्देहास्पद व्यक्ति को तरह हाजिरी लिखा आने के लिए उतर पड़ूँ और वहाँ से वे स्वयं स्टेशन जाकर मुझे ठीक ट्रेन पर सवार करा देंगे। मैं विद्यार्थीजी के सुखद आतिथ्य का उपभोग कर रहा था। इसी समय एक सम्पादक महोदय वहाँ पधारे। मेरा परिचय पाकर उन्होंने अपने पत्र के लिए मेरी कोई कविता चाही। मेरे कुछ कहने के पहले ही विद्यार्थीजी ने कहा—इन्हें कविता लिखनी तो आती नहीं। कम से कम मैंने इनके हाथ की लिखी कोई कविता नहीं देखी। सचमुच मेरे हाथ से लिखी कोई कविता तब तक उन्होंने नहीं देखी थी। परन्तु फिर भी उस बात ने मुझे चोट पहुँचाई। किसी नवीन 'कवियशः प्रार्थी' से कोई सम्पादक स्वतः प्रेरित होकर कविता के लिए प्रार्थना करे और ठीक उसी समय बीच में आकर कोई अन्य व्यक्ति मामला बिगाड़ देने पर उतारू हो, तब कुछ न कुछ बुरा लगने की बात है अवश्य! तत्काल असहिष्णु होकर मैंने उत्तर दिया—भैया की कविता की प्रतिलिपि भी प्रायः मुंशीजी ही करते हैं। आपने उनकी लिखी भी कोई कविता न देखी होगी। बात मुँह से निकल चुकी, तब जान पड़ा कि मेरा तीखा स्वर निकले हुए शब्दों से कुछ अधिक प्रकट कर बैठा है। मैं लज्जित हुआ। वास्तव में विद्यार्थीजी उन महोदय को टालना चाहते थे। उनके कविता माँगने का ढंग उन्हें शिष्टाचार सम्मत नहीं जान पड़ा था।

मुंशीजी सत्कवि थे, भाषा पर उनका अधिकार असाधारण था। ब्रजभाषा, राजस्थानी और आधुनिक हिन्दी मे समानरूप से लिख सकते थे। वर्ण्य विषय का चित्र-सा खींच देने की शक्ति उनमे विलक्षण थी। कवित्व उनके लिए स्वभाविक होने के कारण ही सम्भवतः उसकी ओर वे यथोचित ध्यान नही दे सके। स्वतः लिखने की अपेक्षा दूसरो की रचना मे संशोधन करने और उन्हे उचित सलाह देने मे ही उनके कवित्व का सन्तोष हो जाता था। कोई नया कवि उनके पास आता, तो उसके लिए अपना यथेष्ट समय देने में उन्हे कभी संकोच न होता था। इसीसे वे लिख थोड़ा सके हैं, परन्तु जो कुछ उन्होने लिखा है, उसमे उनके विशेषत्व की छाप है। लिखते भी बहुत शीघ्र थे। एक दिन कहीं जाते जाते उन्होने एक बडे छन्द मे पचास साठ पंक्तियाँ तैयार कर डालीं। आकर जब उन्होने मुझे सुनाया तो मैंने कहा—यह ठीक नहीं है। इन पंक्तियों का बोझा मस्तिष्क से उतार कर कागज पर रख दीजिए। सम्भव है, इस तरह के अनेक अनावश्यक बोझो के कारण ही आप लिखने की ओर समुचित ध्यान नहीं दे पाते। मुंशीजी ने मेरी बात मानकर वह कविता, जितनी उस समय तक तैयार हो चुकी थी, लिखकर रख ली। वह किसी कविता-पुस्तक का प्रारम्भिक भाग था। परन्तु कागज पर उतार देने से ही जैसे उनका काम पूरा हो गया। फिर वह कविता कभी पूरी न हो सकी।

एक बार प्रवास में उन्हें अवकाश मिला। बातचीत करके किसी अन्य व्यक्ति को सन्तुष्ट कर सकें, सम्भवतः यह सुयोग उस समय उन्हें न होगा। तब उन्हे सूझा कि अपने से ही बात करके अपने को सन्तुष्ट किया जाय। कविता आत्म-सन्तोष का ही दूसरा नाम है। परिणाम यह हुआ कि दस-बारह दिन में ही वहीं बैठकर उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता पुस्तक "हेमलासत्ता" लिख डाली। उसीको देखकर पहले पहल मेरे मन में आया कि क्या अच्छा हो यदि मुंशीजी ऐसा ही कुछ और साहित्यिक कार्य करें। शक्ति का यथोचित उपयोग न करना नैतिक अपराध है। मैंने मुंशीजी को तंग करना शुरू किया। वे असन्तुष्ट नहीं हुए। वैसे उनका जैसा स्वभाव था, वे नाराज होकर कह सकते थे,—यह बेगार अपने से नहीं होने की। उन्होंने कुछ लिखा भी, परन्तु मौजी जीव थे, अधिक ध्यान न दे सके। मैं अधिक का इच्छुक था। श्रेयसि केन तृप्यते। जो व्यक्ति चलते-जाते दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह छन्द बनाने की क्षमता रखता हो, उसने हजार दो हजार पंक्तियाँ दे भी दीं, तो उतने से जी किसका भर जायगा। मेरी इस प्रवृत्ति के लिए अपने "गोकुलदास" नामक काव्य में उन्होंने मेरे लिए इस प्रकार लिखा:—

"अब मेरे लिए यही ठीक था कि मैं प्रेम से तुम्हारी रचनाओं का आनन्द प्राप्त करता रहता, पर तुम्हारी निरन्तर प्रेरणाओं ने मुझे—इस अवस्था में भी—विश्राम न लेने दिया;

उठाया, बैठाया और दौड़ाया भी ! मैंने बहुत कहा कि मैं कहीं गिर-गिरा पड़ूँगा, पर तुमने मेरी एक भी न मानी !"

मेरे कहने से मुंशीजी ने लिखने की ओर जो थोड़ा बहुत ध्यान दिया, उसे मैं अपने लिए बहुत बड़े गौरव की बात समझता हूँ। मेरे इस उत्पीडन का उल्लेख करते करते वे गद्गद हो उठते थे। उनका हृदय ऐसा ही कोमल, सरस और भावुकता से भरा था।

उनकी सूझबूझ विलक्षण थी। बातचीत मे उनका प्रत्युत्पन्नमतित्व स्वयं देखने और रस लेने की वस्तु थी। आवश्कक होने पर तुरन्त बात करते करते छन्दोरचना करके श्रोता को चकित कर देना उनके लिए साधारण बात थी। आशुकवियो की कविता में स्थायित्व का गुण प्रायः नहीं देखा जाता। फसल के पौधो की तरह आई और वह गई। परन्तु मुंशीजी की कविता की बात दूसरी है। बड़े बड़े साहित्यमर्मज्ञो को मुग्ध करने का गुण उसमे था। मै उस समय वहीं बैठा था। आचार्य द्विवेदीजी ने उन्हे आज्ञा दी, 'कुछ अपना ही सुनाओ। मुंशीजी ने अपने कुछ कवित्त पढे, सुनकर द्विवेदीजी बहुत प्रभावित हुए। कहा—आपने तो भूषण को मात कर दिया। पास ही मार्मिक समालोचक पंडित रामचन्द्रजी शुक्ल बैठे थे। उन्होंने कहा—भूषण मे भाषा की ऐसी स्वच्छता और संस्कार नहीं मिल सकता।

कहीं बाहर जाते थे, तो वहाँ से मेरे लिए लम्बे-लम्बे पत्र

लिखा करते थे। उनकी इच्छा यही रहती थी कि जो कुछ आनन्द का उपभोग उन्हे हो, उसका लाभ हम सबके भाग में भी आना चाहिए। वे पत्र वार वार पढ़ने की वस्तु होते थे।

मुंशीजी ने अपने जीवन में काफी उतार-चढाव देखे थे। जब उनके पिता की मृत्यु हुई, तब उनकी अवस्था सोलह सत्रह की थी। एक साथ ही उस समय दुर्बल कन्धो पर गृहस्थी का बोझ आ पड़ा था। उस समय जीविका के लिए उन्हें दूर दूर तक ऊँट की सवारी साथ लेकर भ्रमण करना आवश्यक हुआ। उस भ्रमण में उन्हे न जाने कितने भिन्न-भिन्न प्रकृतियो के व्यक्ति मिले, न जानें कितने कितने हर्ष-विषाद और आशा-निराशा के प्रसंग उनके सामने आये। उनकी स्मरण शक्ति इतनी तीक्ष्ण थी कि बरसों बीत जाने पर भी साधारण से साधारण बात उन्हे याद बनी रहती थी। उनके स्मृति पटल पर वे सब प्रसंग आज भी उसी दिन की ताजगी से अंकित थे। मैंने कहा—आप अपना भ्रमण-वृत्तान्त आत्म-कथा के साथ लिख डालें, तो मैं समझता हूँ, हिन्दी में यह चीज बेजोड़ होगी। उन्होंने टाल-टूल तो की, परन्तु मेरा ख्याल है, मेरा प्रस्ताव उन्हें पसन्द आ गया था। फिर भी ऐसे किसी काम के लिए उन्हें वार वार प्रेरित करना आवश्यक था। उनकी मृत्यु के कुछ ही दिन पहले जब मैंने फिर वही अनुरोध उनसे किया तो मुझे आशा हुई थी कि अबकी वार कदाचित् उन्हें इस काम पर बिठा सकूँगा। एक वार

उन्हें बिठा भर देने के बाद कठिनाई न थी। परन्तु किसे मालूम था, वह बात होने की न थी।

स्वर्गीय प्रेमचन्द्रजी की आत्मकथा के लिए भी मैं बहुत उत्सुक था। उन्होंने मेरा अनुरोध मान भी लिया था। परन्तु न तो उन्होंने अपनी आत्म-कथा लिख पाई और न मुंशीजी ने ही। कदाचित् नियम ऐसा है कि हम लोग जिस वस्तु के लिए बहुत उत्सुक हों, वह प्रायः हमारे हाथ नहीं पड़ती।

मुंशीजी बीच बीच मे कहा करते—अब मैं वृद्ध हो गया हूँ, मुझसे काम नहीं बन सकता। यह वृद्ध होने की भी कैसी मनहूस बात है! मैं कहता—आप वृद्ध कैसे हो गये? मैं आपके सामने बच्चा हूँ, आप अधिक से अधिक तरुण हो सकते हैं, यदि किशोर न रहना चाहें। आज जब वे हम लोगो के बीच मे से चले गये है, तब भी मन यह मानने के लिए तैयार नहीं होता कि वे वृद्ध हो गये थे। संसार में प्रायः अकाल मृत्यु ही देखी जाती है। मुंशीजी के सम्बन्ध में तो मृत्यु किसी समय भी ऐसी ही मालूम होती।

खरी बात कहने में चूकते उन्हें कभी नहीं देखा गया। सत्य के लिए वे अपनी स्वाभाविक मृदुता और अपने हानि-लाभ का भी परित्याग कर देते थे। द्विवेदी-अभिनन्दन के उत्सव का सभापतित्व करने ओरछा के महाराजा साहब काशी आये हुए थे। वहाँ द्विवेदीजी के किसी प्रश्न के सिलसिले में महाराज ने अनेक सम्मानित विद्वानो की गोष्ठी में कहा था कि

मुंशीजी सत्य के लिए किसीकी परवाह नहीं करते । कभी कभी मुझसे इस तरह झगड़ पड़ते हैं कि मैं ही जानता हूँ ।

साहित्य की अपेक्षा मनुष्य अपने निजी जीवन में अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है । मुंशीजी के संसर्ग में थोड़ी देर के लिए भी जो व्यक्ति आया, वह उन्हें फिर कभी नही भूला । दो चार बातें करके ही वे किसीको अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे ।

मुंशीजी जन्मना मुसलमान होकर भी संस्कारतः वैष्णव थे । प्रायः लोगों को विश्वास न होता था कि वे मुसलमान हैं । हिन्दू-धर्म में उनकी आस्था ऐसी ही अटल थी ।

भक्तिरस की कविता से तुरन्त ही उन्हें अश्रुपात होने लगता था । भैया उन्हें कोई रचना सुना रहे हैं और उनकी आँखो से अजस्र आँसुओं की धारा बह रही है । ऐसी स्थिति में अनेक वार ऐसा हुआ है कि कविता की अपेक्षा मेरा हृदय उनके आँसुओं से अधिक द्रवित हुआ । मुझे वार वार इसका अनुभव हुआ है कि मुंशीजी जैसा सरस-कोमल हृदय कहीं मुझे भी मिला होता !

बहुत दिन पहले एक वार मुन्शीजी को कोई रोग हुआ । रोग कदाचित् रक्तसम्बन्धी था । उससे उन्हें बहुत चिन्ता हुई । उस समय उन्होने नियम किया कि वे प्रति दिन नियमपूर्वक मन्दिर में जाकर कीर्त्तन करेंगे । थोड़े ही दिनो में उनका रोग अपने आप दूर हो गया । उनकी श्रद्धा ऐसी ही अटल थी ।

उनका विश्वास था कि शुद्ध मन से जब कभी वे प्रार्थना करेंगे, वह निश्चय ही पूरी होगी। एक वार उनका एक कृपापात्र किसी अभियोग मे गिरफ्तार हो गया। तुरन्त मन्दिर मे जाकर उन्होने साश्रुवदन प्रार्थना की। मन्दिर से बाहर आकर उनका जी हल्का होगया। मित्र की विपत्ति की ओर से उनको किसी तरह की शंका न रही। बाद में एक दूसरे व्यक्ति ने उन्हें सुझाया कि तुमने एक जन के लिए तो प्रार्थना की है, किन्तु उस अभियोग में एक अन्य जन भी पकड़ा हुआ है। उसके लिए भी प्रार्थना करो। मुन्शीजी फिर मन्दिर पहुॅचे। परन्तु उन्हें अनुभव हुआ, यह दूसरा व्यक्ति नही छूटेगा। इसे छूटना होता तो पहली वार ही मै उसे क्यों भूल जाता! अन्त मे हुआ भी ऐसा ही। पहले वाला व्यक्ति निर्दोष होकर छूट गया, दूसरे को सजा हुई।

हिन्दुत्व का प्रभाव उन पर इतना गहरा था कि कभी कभी वह मुझे अरुचिकर हो उठता था। खान-पान में छुआ-छूत का विचार कुछ कड़ाई से करते थे। कई वार मुझे यह शिकायत हुई है कि आपने तो हिन्दुओ के दुर्गुण भी अपना लिये।

इतने अधिक वैष्णव भावापन्न होकर भी वे संकोर्ण न थे। प्रायः देखा है कि पैगम्बर साहब की स्तुति में उर्दू की एक कविता गाते गाते वे आत्म-विस्मृत हो उठे है। असम्भव नही है, पैगम्बर साहब की प्रशंसा मे भी वे अपने उपास्य राम और

कृष्ण की ही झलक देखते हों। उनके मन में अटूट श्रद्धा और अपार भक्ति थी और प्रधान वस्तु है भी यही।

हिन्दू संगठन के सिलसिले मे लोगो ने कहा—मुन्शीजो आप शुद्ध होकर हिन्दू हो जाइए। विचारों से आप हिन्दू हैं ही। उन्होने उत्तर दिया—ऐसा मुझमें अशुद्ध क्या है, जो मैं शुद्धि कराने जाऊँ। सम्भवतः वे यह अनुभव करते थे कि हिन्दुओ में उस बल की कमी पड़ गई है, जिसके कारण उनके बीच में अपने ही अपने बनकर नहीं रह पाते।

मुन्शीजो में आत्माभिमान था और कम भी नहीं था, फिर भी वह उस सीमा तक नहीं पहुँचा था, जहाँ पहुँचकर वह अहंकार में बदल जाता है। बड़े बड़े विद्वान और महापुरुष उनके गुण का आदर करते थे, राजा महाराजाओ में उनका सम्मान था, फिर भी छोटे कहे जाने वाले व्यक्ति के पास बैठकर उसे सन्तुष्ट करने में भी उनके जी को बहुत सुख मिलता था। प्रायः ऐसा हुआ करता था कि घर से कहीं दूसरी जगह के लिए निकले हैं, और बीच में ही किसी बढ़ई, लुहार, या दरजी के यहाँ जाकर जम गये। घन्टों उन लोगों का मनोरंजन करके ही तब कहीं वहाँ से उठते थे। ऐसे में प्रायः उन्हे अपने प्रधान कार्य की सुध भी भूल जाया करती थी। उनका यह गुण इतना अधिक था कि कभी कभी इसे दोष कहने की इच्छा होती है। यदि उन्हे समय का ध्यान होता तो वे जितना साहित्यिक कार्य कर गये हैं, उसे बहुत अधिक कर गये होते। कहीं बैठे है तो

बैठे ही है। रात में सोते बहुत देर से थे। रात के एक दो बजा देना तो उनके लिए आसान बात थी। कभी कभी घड़ी देखकर कहने लगते—यह गलत हो गई है। अभी इतना समय नहीं हुआ।

ऐसे अवसरो पर मै हँस उठा हूँ। परन्तु अब ध्यान में आता है कि कभी कभी घड़ी भी गलत समय दे जाती है। क्या अभी इतना समय हो गया था कि मुन्शीजी जमी हुई गोष्ठी सूनी करके उठ जाते ?

उनका शरीर कुछ दिन ने अस्वस्थ प्रतीत होता था। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी मे 'सूरसागर' का सम्पादन करते समय उन्हें ज्वर और खाँसी की शिकायत हो गई थी। वहाँ का परिश्रम और हवा-पानी उन्हें सहन नहीं हो रहा था। फिर भी वे चाहते थे कि जो काम हाथ में लिया है, वह अधूरा न छूटना चाहिए। परन्तु वहाँ कुछ ऐसी बातें सामने आईं कि उन्होंने त्यागपत्र दे देना ही उचित समझा। वहाँ से लौटकर जब वे घर आये तो हम सब लोगों को बहुत चिन्ता हुई। मैंने कहा—जिनके असद् व्यवहार के कारण आपको त्यागपत्र देना पड़ा है, उन्होने हमारे साथ यह बहुत बड़ा उपकार ही किया। आज भी मेरा वही विश्वास है। उस समय उन्हें जो ज्वर बस गया था, वह बहुत दिनो मे सुयोग्य चिकित्सको की चिकित्सा से ही दूर हो सका था।

उन्हें स्वस्थ देखकर आशा हो चली थी कि संकट टल गया। उनके पिता का देहावसान चहुँत्तर-पचहत्तर बरस की

अवस्था में हुआ था। इसलिए हाल में तो किसी तरह की आशंका ही न थी। मुंशीजी इस समय पचपन वर्ष के ही थे। परन्तु होना तो यह था। आजीवन उन्होंने हँसाया था, वही इस तरह रुलाते भी नहीं तो और कौन रुलाता। न जानें कितनी बातें मन की मन में रह गई, न जानें कितनी आकांक्षाएँ और थीं, जो पूरी न हो सकीं, जहाँ की तहाँ ही मुरझा गई हैं।

बहुत बचपन से उनकी मनोहर कहानियाँ सुनता आ रहा हूँ। बचपन में भी कहानी सुनने के लिए उन्हें बहुत घेरा है और आज भी बच्चों को सह देकर इसके लिए सबके आगे ही जमकर बैठा हूँ। इधर मैंने कुछ कहानियाँ लिखने का लोभ किया था। जब 'अन्तिमआकांक्षा' नामक उपन्यास लिखा, तब इच्छा थी, उन्हें भेट करके उसमें लिख दूँ कि सदैव आपसे ही कहानी सुनता आ रहा हूँ, आज की मेरी यह धृष्टता क्षमा करो। किन्तु उस समय वैसा न कर पाया, इच्छा रखकर भी न कर पाया। न जानें क्यों मुझे यह विश्वास हुआ कि यह रचना उन्हें पसन्द नहीं होगी। बाद मे स्वयं पढ़कर जब उसके लिए उन्होंने मुझे अत्यन्त प्रोत्साहित किया, तब अपनी भ्रान्त धारणा के लिए खेद करके ही रह जाना पड़ा; सोचा, अब अपने अगले उपन्यास में ही यह इच्छा पूरी होगी। इधर मैं एक उपन्यास लिख भी रहा था। थोड़ा ही लिखने के लिए और था कि भाई जैनेन्द्रकुमार अचानक यहाँ आ गये। उन्होंने उसे उतना ही देख डाला। तब मैंने यह उचित समझा कि इतना ही मुंशीजी

को भी दिखा दूँ । मुन्शीजी ने भी तब मेरी वह अधूरी हस्तलिपि प्रसन्नतापूर्वक पढ़ डाली । सोचा, अबकी बार अपनी वह वांछित धृष्टता मै सन्तोष के साथ पूरी कर सकूँगा । उस समय क्या जानूँ कि अदृष्ट में कुछ दूसरी बात है । उस समय भी उनके शरीर पर वे फोड़े मौजूद थे, जिनमें से एक ने विषाक्त होकर एक पखवारे के भीतर ही उनको हमारे बीच से छीन लिया ।

मृत्यु के एक दिन पहले जब उन्हें कुछ कुछ बेहोशी आ चली थी, तब उन्होंने मुझसे पूछा—उपन्यास कितना और लिख चुके ? मुझे लज्जा मालूम हुई । उनकी तबीयत खराब हो रही हो और मै निश्चिन्त होकर लिखता रहूँ, यह मेरे लिए लज्जा की ही बात थी । मृत्यु के आठ घंटे पहले उनके लिए जब झाँसी से फिर डाक्टर आया और मै भी उनके सामने हुआ, तब वे बहुत कम सचेत थे । फिर भी उन्होंने मुझसे यही प्रश्न किया—क्या इस समय लिख रहे थे ? यही अन्तिम बात थी, जो उन्होंने ज्ञानतः मुझसे कही । अवस्था चिन्ताजनक होने पर भी किसीको भान तक न था कि आज की ही रात ऐसी भयंकर निकलेगी, जिसका आघात जीवन भर सहना होगा ।

उस दिन की बात भुलाये नहीं भूलती । इसी ज्येष्ठ की पहली प्रतिपदा का प्रातःकाल था । गाँव भर में एक साथ बिजली-सी गिरी कि रात मे मुन्शीजी का देहान्त हो गया । क्या मुन्शीजी का देहान्त हो गया ? सहसा आँखो में आँसू भी

न आ सके। एकाएक यह हुआ क्या ? कल सन्ध्या समय ही तो झॉसी के एक कुशल डाक्टर पूर्ण निश्चिन्त रहने का आश्वासन दे गये थे। किन्तु डाक्टर के ही कहने से क्या, आघात इतना कठोर था कि पहले से उसकी कल्पना भी असह्य थी। न रोना आया, न चिल्लाना। जैसे किसीने सारी बोध शक्ति छीन ली हो।

मुन्शीजी से ही सुना है। एक कहानी कहने वाला जहाँ देखता कि सुनने वाले एकाग्र हो गये हैं, सभी में आगे के लिए तीव्रतर उत्सुकता है, बस वहीं वह एक दम रुक जाता था। असमाप्त होने पर भी अपनी कहानी वहीं समाप्त करने में उसे विशेष प्रसन्नता होती थी। मुन्शीजी को यह ढंग पसन्द न था। पूरे विस्तार के साथ यथार्थ अन्त तक पहुँचकर भी 'और और, फिर फिर' का समाधान करने की विश्वस्त शक्ति उनमें थी। परन्तु आज यह क्या बात हुई ? कैसे उनके जीवन की ऐसी बड़ी कहानी असमय ही इस प्रकार समाप्त हो गई ?

भैया ने आज्ञा की—चलो, मुन्शीजी को कब्रस्तान तक और पहुँचा आवें।

मुन्शीजी के घर पहुँचकर मैं भी अपने रूक्ष आँसू न रोक सका। स्त्रियों के क्रन्दन की ध्वनि दूर से ही सुनाई दे रही थी। लोग हृदय पर पत्थर-सा रक्खे चुपचाप इधर उधर आ जाकर तैयारी कर रहे थे, जिसमें कोई विलम्ब न हो। जो व्यक्ति सम्पूर्ण मोह-ममता छोड़ चुका है, वह फिर हमारे किस काम का ?

उसे तो शीघ्र से शीघ्र उसके असली ठौर पर पहुँचा देना चाहिए। बात कुछ बुरी थोड़े है !

द्वार तक पहुँचकर भी भीतर न जा सका। मन एक दम इनकार ही कर बैठा। आजीवन मुन्शीजी को जिस रूप में देखा है, मन के भीतर वही रूप क्यों न अंकित रहने दूँ ? आज के इस दर्शन की आवश्यकता ही क्या है ?

भैया भी चुपचाप बाहर के ही चबूतरे पर नीचे पैर लटकाकर बैठ गये थे। रात को मुन्शीजी की मृत्यु के दस-बीस मिनट पहले वे वहाँ से हट आये थे, इसलिए किसी व्यक्ति ने बताया कि मरने के कुछ पहले मुन्शीजी ने बड़े जोर से कहा था—'मैथिलीशरण ! मैथिलीशरण !' न जानें, वह जाने वाली आत्मा उस समय क्या सोच रही थी; न जानें कौन-सी बात, न जानें कौन-सा रहस्य कहने के लिए उसके भीतर ही रह गया, निर्मम मृत्यु ने उसे प्रकट नहीं होने दिया !

देखता हूँ, मुन्शीजी का कनिष्ठ पुत्र आकर सहसा भैया के पैरों से चिपट गया है। रोते रोते उसने कहा—क्या करूँ दद्दा, क्या करूँ ? कैसे सहूँ, मेरी तो छाती फटी जा रही है। लोगों ने देखा—भैया का धीरज भी उनका साथ नहीं दे रहा है। उन्होंने कहा,—भैया, धीरज धर, हिम्मत नहीं खोना चाहिए, धीरज खोना तो नहीं चाहिए, परन्तु ऐसे जन से किसीको क्या धीरज मिल सकता है, जिसका कंठ अपने ही आपे मे न हो, जिसकी आँखें स्वयं ही आँसू बरसा रही हों।

मुंशीजी के तीन पुत्र हैं। तीनो ही पूर्ण वयस्क। ज्येष्ठ पुत्र ऐसा हो गया था, जैसे कोई बात उसके कान मे ही न जाती हो। मध्यम को इधर-उधर के काम में योग देना पड़ रहा था। योग देने की एक ऐसी भी असहायता होती है! कनिष्ठ की हालत वह वैसी ही थी। विचित्र विक्षिप्तता थी। तीनो के तीनो जैसे एक ही शोक के तीन विभिन्न चित्र हो। सोचा, यहाँ से हटकर मुंशीजी के ही दर्शन क्यो न कर लूँ। यह दर्शन शिष्टाचार का दर्शन नहीं, सचमुच दर्शन ही था।

भीतर जाकर झुककर प्रणाम किया, पैर छुए, परन्तु उनके मुख की ओर न देख सका। किसी तरह वहाँ आँखें ठहरी ही नहीं। इसी समय देखा, बड़ी लड़की अन्तिम दर्शन की बात सुनकर बेहोश हो गई है।

अर्थी उठी। बहुत बड़ी संख्या मे हिन्दू और मुसलमान; सब के सब शोक-मग्न, सिर झुकाये हुए, चुपचाप। यह मौन है किसलिए? क्यो नहीं आज झालरें और घण्टे बजते हैं; क्यो नहीं आज शंख अपना विजयघोष कर उठता है? आज एक शुद्धात्मा हँसता हँसता अपनी इहलीला पूरी करके उस लोक को जा रहा है। ऐसे में भी मंगल-घोष न होगा तो और होगा कब? परन्तु मुसलमानी धर्म में यह सब अशास्त्रीय है। हो, शोकविधि शोक के साथ ही हो। जाने वाली आत्मा को अब इन बातों से कुछ प्रयोजन नहीं रहा।

अर्थी उस घर के फाटक के सामने पहुँची, जिसकी ओर

से मुँह फेरकर मुंशीजी कभी नही गये; जिसके भीतर जाने के लिए मुंशीजी को आँधी में, पानी में, उजले दिन में और घोर अँधेरी रात में कभी समय-असमय नहीं था। वह फाटक, जिसमे आज उनके चले जाने पर भी प्रायः मुझे अनुभव होता है कि अपना ऊँचा वल्लम लिए, खादी के कुरते पर खादी का ही साफा बाँधे हुए वे प्रवेश कर रहे है और थोड़ी देर में ही हँसते हँसते हम लोगो के सामने वल्लम टेक कर आ खड़े होगे! वह फाटक भी पीछे छूटा। वहाँ एक बालक अर्थी देखकर इतना विकल हो उठा कि उसे सँभालना कठिन था। रो ले भाई, तू भी रो ले! उस सुखद गोद में तू हँसा खेला भी तो कम नहीं है।

कब्रस्तान मे उसी जगह से मिली हुई कब्र खोदी गई थी, जहाँ बीस बाईस वर्ष पहले मुंशीजी हमारी भाभी को सुला आये थे। पत्नी की बगल में आज निस्संकोच सो सकने के लिए ही मुंशीजी ने दुबारा विवाह नही किया था। वहाँ खादी की शुभ्र चादर पर वे लिटा दिये गये।

भैया जनकपुर और अयोध्या की तीर्थ-मृत्तिका, रेणुका और गंगाजल साथ ले गये थे। उसे चढ़ाने के लिए मुसलमान भाइयों ने ऐतराज नहीं उठाया। भैया ने उसे मुझे सौंपते हुए कहा—लो चढ़ा आओ। मैंने यन्त्र-चालित की माफिक सब काम कर दिया।

भैया भी मिट्टी देकर आये और उन्होंने कहा—देखा तुमने

अजमेरी की ओर ? जैसे उन्होंने इस ओर से, इस लोक से दृष्टि फेर ली हो। कहीं दूसरी ओर उनका ध्यान चला गया है। शान्त, गम्भीर, किन्तु कितनी आत्म-गौरव-मंडित वह आकृति है ! यहाँ उस मूर्त्ति को जैसे अब कोई प्रयोजन नहीं रहा।

ग्रीष्म की लू प्रखर हो रही थी। वृक्ष सरसराहट के साथ साँ-साँ करते दिखाई दिये। इधर यह दूर तक फैली हुई पक्की सकड सूनी-सी दिखाई दे रही है, उसके बाद वह कुआँ, फिर वे वृक्ष, उनके भी बाद आकाश में घुली-मिली दूर की पहाड़ियों को वह नीलिमा। कहीं कुछ नही ! इतने अधिक जनसमूह के साथ भी मानो हम सब लोग अकेले पड़ गये है।

मुंशीजी को मनों मिट्टी के नीचे छिपाकर हम सब लोग लौट पड़े।

सत्य अपने स्वाभाविक रूप में ही कितना मनोहर हो सकता है, यह बात मुंशीजी से समझना चाहिए, ऐसा ही कुछ श्रद्धेय भाई साहब राय कृष्णदासजी ने एक वार मुंशीजी के सम्बन्ध में लिखा था। सत्य सदैव मनोहर ही नही, वह भयंकर कठोर भी है। आज के दिन यह भी मुंशीजी ने ही प्रकट कर दिया।

ज्येष्ठ शुक्ल

१९९४

शुष्को वृक्षः

खेत की मेड़ पर बबूल का एक वृक्ष है। सूखा हुआ है। एक दम सूखा हुआ नहीं। कही न कही इसमे जीवनरस अब भी प्रवाहित है। पर कहाँ, किस जगह है इसका वह जीवनरस, यह इन आँखो से नही देखा जा सकता। छाल इसकी स्निग्ध-सचिक्कण नही है, बहुत पहले से नही है। वह जगह जगह उखड़ी हुई है। उसे मानों इस बात को किसी तर्क से प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं कि वह इन अनगिनती काँटो की ही सहोदरा है, अग्रजा है। सूक्ष्म न हो सकने पर भी अपनी स्थूलता मे ही उसने इनके साथ अपनी एकरक्तता प्रकट कर रक्खी है। दूर से इसकी ओर देखने से ही आँखों मे जैसे कुछ चुभता है।

पर आज इसके पास होकर जैसे ही मै निकला, वैसे ही न जानें क्यो इसने मुझे अपनी ओर आकर्पित कर लिया है। मेरे मुहँ से अनजान में ही यह प्रसिद्ध वाक्य निकल पड़ा है—"शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे"। रसिक समालोचक मेरी इस रसहीनता पर हँसे विना न रहेगे। यह इसलिए कि कोमलकान्त पदावली में मै "नीरस तरुरिह विलसति पुरतः" नहीं कह सका। फिर भी सत्य को छिपा न सकूँगा। उस कठोर वाक्य की आवृत्ति करता हुआ ही आज मैने यह वृक्ष देखा, एकटक बड़ी देर तक चुपचाप खड़े होकर देखा।

खड़े खड़े सहसा उस आख्यायिका की याद मुझे आगई है। बहुत छुटपन में संस्कृत के किसी विद्वान् से सुनी थी। कादम्बरीकार कवि बाण भट्ट के विषय की बात है। कवि को अमर कृति कादम्बरी अधूरी ही थी और उनको जीवनलीला समाप्त होने पर आ गई। वे मरणशय्या पर थे; जिस बीमारी ने उन्हें वहाँ लिटाया था, वह अपना काम कर चुकी थी। अब इसीलिए वहाँ उसकी उपस्थिति आवश्यक न थी और वह वहाँ से खिसकने की तैयारी में थी। कवि के देह का उत्ताप दूर हो चुका था, अंगों की पीड़ा शान्त थी। यह सब कुछ था, फिर भी कवि की मनोवेदना ऐसी थी कि जिसका कुछ पार नहीं। तो क्या मृत्यु को सामने देखकर कवि का हृदय भयभीत था, अथवा उसके मन में संसार के प्रति मोह उत्पन्न हो गया था, जो इतर प्राणियों में ही देखा जाता है? यह बात नहीं है। जिसकी रसना ने वाग्देवी की वीणा का अमृत जी भर कर पान किया था, अकेले अकेले अपने आप ही नहीं किया था, वरन् दूसरों को भी उन्मुक्त होकर कराया था, उसे मरण का कैसा भय और कैसी चिन्ता? कवि अच्छी तरह जानता था कि वह जीवन के इने गिने कुछ ही बरसों के लिए इस संसार में नहीं आया है। उसका देह ही छूट सकता है, पर वास्तव में वह जो कुछ है, वह नष्ट न होगा; चिरकाल तक न होगा। पृथ्वी पर धूलि के नये नये पर्त चढ़ाती हुई एक के बाद दूसरी सदियाँ आती हैं और आती रहेंगी, पर उसके साहित्य का कनक-पद्म सूखे में भी जलाशय

को भाँति, सबके ऊपर ही दिखाई देगा। पुरावेत्ताओं को उसके लिए नीचे की भूमि न खोदनी पड़ेगी। वह चिर नवीन जो है, चिरन्तन जो है। फिर भी कवि वेदना से आतुर था। इस बात का विचार उसे अशान्त कर रहा था कि वह अपना कार्य पूरा नहीं कर पाया है। वह आया था इस लोक के गद्यात्मक ऊसर में कवित्व की मधुरिमा खिलाने के लिए। उसके हाथ में नन्दनकानन के वंश की कादम्बरी-वीणा थी। उसके ऊपर उसने जिस अलौकिक आलाप का आरम्भ किया था, वह अभी तक असमाप्त था और वह अमर गायक आज इसी समय जाने वाला है। उसके इस व्रत का उद्यापन कौन करेगा ? क्या उसकी कृति इसी तरह अधूरी पड़ी रहेगी ?

कवि अशान्त था। किसी उपचार से उसकी वेदना का शमन नहीं किया जा सका। तब ज्येष्ठ पुत्र ने हाथ जोड़कर कहा—आज्ञा कीजिए, किस उपाय से आर्य की पीड़ा शान्त होगी।

कनिष्ठ पुत्र ने भी उसी तरह कहा—आर्य की आज्ञा का पालन प्राण देकर भी किया जायगा। अब यह कष्ट और नहीं देखा जाता।

प्राण दे डालना सरल है। यदि प्राण दे डालने से ही संसार का काम बन सके तो यहाँ कठिनाई कहीं रहती ही नहीं। कवि समाश्वस्त न हो सका। उसे विश्वास न था कि उसके पुत्र उसका कार्य सम्पन्न कर सकेंगे। पुत्र कितने ही बड़े

क्यो न हो जायँ, पिता के निकट वे बच्चे ही रहते हैं। और सूक्ष्मदर्शी और मनीषी कवि की दृष्टि इस समय पिता की ही थी।

पर यह समय बहुत सोच-विचार के उपयुक्त न था। अपना वात्सल्यजनित अविश्वास कवि को दबा देना पड़ा। सम्भव है, उस समय कवि को इस तरह का मोह हो गया हो कि अपनी कृति का उत्तराधिकार पुत्र को ही होना चाहिए। पुत्र ने उसका कार्य पूरा किया तो उसका यश उसीका रहेगा, और कोई उसे न छीन लेगा!

कवि ने कहा—कौन तुममे से कादम्बरी पूरी करेगा? इस समय मेरी वेदना का कारण यही है। यदि मेरा कृति पूर्ण न हुई, तो उस लोक में मुझे शान्ति न मिलेगी।

दोनो पुत्रो ने कहा—आज्ञा कीजिए, आर्य के आशीर्वाद से हममें से कोई भी यह कार्य करने के लिए प्रस्तुत है। आर्य इस समय चिन्तित न हो।

कवि के सम्मुख एक समस्या-सी आ खड़ी हुई। लिखने के लिए मानो दो सुन्दर भाव एक साथ मन में उदित हुए हों। अब उनमें से किसे तो स्वीकार किया जाय और किसे नहीं। निर्णय कुछ सरल न था।

कवि ने सहसा झरोखे के बाहर दृष्टि डालते हुए क्षीणस्वर में पूछा—वह क्या है? कहो।

वहाँ कुछ दूर पर एक सूखा वृक्ष खड़ा था। कवि को

तत्कालीन अवस्था का प्रतिरूप ! ज्येष्ठ तनय ने उसे देखकर कहा—शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे ।

आह यह वाणी कितनी कर्कश है ! कवि ने निराश होकर कनिष्ठ की ओर देखा । उसने कहा—नीरस तरुरिह विलसति पुरतः ।

कवि के मुख पर प्रसन्नता की रेखा दिखाई दी । आहा इसकी वाणी कितनी ललित है ! इस अवस्था में भी इसने अपने शैशव के माधुर्य को सूख नहीं जाने दिया । यह कनिष्ठ भी तो है । कवि ने तुरन्त उसे आज्ञा दी—तुम्हीं मेरी कादम्बरी पूर्ण करोगे ।

और इस आदेश की पूर्त्ति यथा समय कवि के कनिष्ठ पुत्र ने जिस प्रकार अपना नाम अप्रकट रखकर की, उसके लिए सारे साहित्य-रसिक चिरकाल तक उसके अनुगृहीत रहेंगे ।

इस सूखे पेड़ को देखकर आज इसी कथा की याद मुझे आ गई है । पण्डित-मण्डली में पीढ़ी दर पीढ़ी से इसका प्रचार है । न जानें कब से कितने सुन्दर सायंकाल इस कथा के संयोग से श्रोता जनों के बीच में और भी मधुर हुए हैं ! इसके सहारे न जानें कब से कितने आनन्द की वर्षा बाण के कनिष्ठ-तनय पर हुई है और न जानें कितनी वितृष्णा उनके ज्येष्ठ तनय को सहनी पड़ी है, इसका कुछ हिसाब नहीं । सुनने वालों ने इस कथा से केवल मनोरंजन ही नहीं किया, किन्तु उनके ज्ञान की वृद्धि भी इससे हुई है । एक ही बात एक तरह से कही जाने

पर अत्यन्त कर्कश जान पड़ती है और दूसरी तरह वही अत्यन्त मधुर, अत्यन्त ललित हो उठती है। एक के हाथ में तो खान की सोने की मिट्टी ही पड़ी, किन्तु दूसरे ने उस मिट्टी को सुवर्ण ही नहीं बना दिया, वरन् शोभन कण्ठहार का रूप दे दिया है। कवि की परख ऐसे ही अवसर पर होती है। वह कृती कलाकार धन्य है, जिसके कण्ठ से वैसी पदावली बिना किसी प्रयास के निकल पड़ी। "नीरस तरुरिह विलसति पुरतः"—क्या कहना है इसकी कोमलता का !

पर आज इस बबूल के वृक्ष को इस खेत की मेड़ पर देखकर मेरे मुहँ से "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" ही निकल रहा है। मन एक साथ विद्रोह करने पर तुल गया है। कण्ठ से किसी तरह कोमल पदावली निकलती नहीं है। बाण भट्ट जैसे महाकवि का निर्णय इन पंक्तियों के लेखक के विरुद्ध पड़ेगा। वह जानता है कि रसिकमंडली की किसी अधूरी कादम्बरी की पूर्त्ति करने के उत्तराधिकार से वह सदा के लिए वंचित कर दिया जायगा। फिर भी उसके कण्ठ से 'नीरस तरुरिह विल-सति पुरतः' किसी भाँति नहीं निकलना चाहता है। यह अस्वीकार करने का उपाय नही है कि इस पद मे माधुर्य है, सरसता है, स्वर-ताल और सङ्गीत है। यह इसमे सब कुछ है और यही वह कारण है जिससे मेरे मुहँ से वह वाक्य इस समय नही निकल रहा है। सामने एक सूखा वृक्ष दिखाई दे रहा है। वृक्ष नहीं, यह वृक्ष का शव है। त्वचा तक इसकी

सूखकर हड्डियो जैसी कठोर हो गई है। इसे देखकर किस तरह मैं तान अलापने लगूँ ? आज कल के सिनेमा मे, थियेटर में, ऐसा दिखाई देता है। वहाँ ऐसा दिखाई देता है, इसलिए मैं भी वैसा ही करूँ, यह कोई अच्छी दलील नहीं।

कवि ने अपने पुत्रों की जो परीक्षा ली, उसका अधिकार उन्हें न था, यह कौन कहेगा ? वह उन्हें था। उन्होंने जो कुछ किया वह एक पारिवारिक बात थी। उसके बीच में पड़ने का हमारा प्रयोजन नहीं है। पर इस घटना के बाद शताब्दियों से हमारे पण्डित समालोचक जो करते रहे हैं, उसमें अवश्य ही आपत्ति उठाई जा सकती है। उन्होने मानों स्वयं अपने को ही कवि समझकर उन दोनो बन्धुओ की निर्मम परीक्षा ली है, वार वार ली है। बाण भट्ट ने तो एक ही वार थोड़े में अपनी बात समाप्त कर दी होगी। उस समय उनके पास सम्मेलनो में कविता सुनने वालों की तरह 'आह-आह वाह-वाह !' करने का समय ही कब था। पर हमारे इन बने हुए बाण भट्टो को संक्षेप में बात करने की जल्दी कहाँ है। उन्होने वार वार विस्तार के साथ ज्येष्ठ बन्धु की जो निन्दा की है, उसे वार वार पिता के श्रेष्ठ उत्तराधिकार से जो वंजित किया है, उसमे न तो न्याय विचार है और न सहानुभूति ही। कोमल पदावली के रसिक होते हुए भी उनमें यह कठोरता कहाँ से आ गई, यह सोचने की और समझने की बात है।

कनिष्ठ के सौभाग्य के प्रति हमें ईर्ष्या नही है। उसके

लिए उसे बधाई भी दी जा सकती है। फिर भी यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं होती कि ज्येष्ठ के प्रति कठोर अन्याय किया गया है। कवि यदि आसन्नमरणावस्था मे न होते तो उसके इस रूखे-सूखे कर्कश वाक्य के लिए वे स्वयं उसका अभिनन्दन करते। कवि होने के कारण वे जानते थे कि प्रमोदवन का वर्णन करने के लिए किस रचनारीति की आवश्यकता होती है और युद्धभूमि की कर्कशता के लिए किसकी। हाँ, यह दूसरी बात है कि किसी दूसरे कारण से कादम्बरी की पूर्ति का भार ज्येष्ठ को न सौंपा जाता।

कोमलता अच्छी वस्तु है। आसानी से उसकी ओर हृदय खिंच जाता है। यह कोई न चाहेगा कि किसी हरी-भरी लता की छाया में रहना छोडकर इस सूखे वृक्ष का आश्रय ले। लता-मण्डप में जो शीतलता मिल सकती है, वह इसमें कहाँ है? फिर भी दीख यह पड़ता है कि खुली धूप में खेत का काम करने वाले अपना पसीना सुखाने के लिए यहीं आते हैं। पास में थोड़ी दूर पर वह जो उपवन है, उसकी ओर उनका ध्यान तक नहीं जाता। कर्त्तव्य का आग्रह उनके मन में इतना तीव्र है कि इस वृक्ष की नाम मात्र की छाया से ही उनकी शीतलता की प्यास मिट जाती है। उनकी शीतलता का सच्चा आश्रय उस उपवन में नहीं, इस खेत के इन नन्हे नन्हें पौधो मे है, जो यहाँ हिलडुल कर मन्द पवन के साथ क्रीड़ा कर रहे हैं। इन्हें अपनी आँखों की ओट में वन्य पशुओं के लिए छोड़कर वे

यदि उस उपवन में चले जायँ तो दूसरा कोई तो क्या, वे स्वयं ही अपने आपको क्षमा न कर सकेंगे। कर्तव्य के पिता का आदेश यही रहने के लिए उन्हें है। आश्चर्य का विषय यह है कि जो बात इन लोगो को समझ मे भी आती है, वह हमारे समालोचकों की समझ में नहीं आई। वे वास्तव के कठोर की उपेक्षा करके कोमलता के उपवन में विचरण करने चले गये हैं। इस "शुष्को वृक्षः" में भी जो आनन्द है, उसकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गई।

कवि-पुत्रो का वह आख्यान अब केवल उन्हींकी बात नहीं है। वह हमारी रसज्ञता की कसौटी बन गई है। घर की सीमा को लाँघकर अब उसने साहित्य के, समाज के आँगन में प्रवेश कर लिया है। निजी बात कहकर उसे टाला नहीं जा सकता। प्रतीत होता है, मानो हम सभी साहित्यरसिक वही कविपुत्र हैं। आज हमारी परीक्षा का समय है। कठोर और कोमल दो में से किसी एक को हमें चुन लेना है। इधर एक की कठोरता कम नहीं और दूसरे की कोमलता का प्रलोभन भी बहुत बड़ा है। साहित्य के मुमूर्षु पिता ने हमें संकेत किया है—देखो सामने का वह सूखा वृक्ष, तुम्हें मुझ-जैसे इस मरते हुए को जीवन्त करना है, इसमें प्राण का संचार करना है। क्या हम अपना यह कर्त्तव्य सँभाल सकेंगे ? कला के नीर से सींचकर इसे अमरत्व देना असम्भव नहीं है। अब भी यह जिलाया जा सकता है। हो सकता है कि ऐसा करने जाकर हम

निदेश कर्त्ता के ही विराग-भाजन बन जायँ। ऐसी आशंका है, तभी तो इस कर्त्तव्य का गुरुत्व और अधिक है। परम गहन है इसका यह कठोर मार्ग। इसलिए भय यही है कि हम कोमल के ही उपवन में जाकर कहीं भटक जायँगे, इस सूखे वृक्ष को भुलाकर हम किसी रसीली लता को ही सींचने लगेंगे। कनिष्ठ बन्धु को इसका जो पुरस्कार मिला है, जो पुरस्कार मिलता रहा है, उसके उदाहरण से इसीकी सम्भावना अधिक है।

नहीं, यह ठीक न होगा। इस सूखे वृक्ष को यहाँ प्रत्यक्ष देखकर ज्येष्ठ बन्धु के कठोर वाक्य का रस मुझे मिल गया है। रस कठोर में भी होता है। सब कोमल पदार्थ सुस्वादु नहीं होते। इसीसे "शुष्को वृक्षस्तिष्ठत्यग्रे" मे जो बात है, वह "नीरस तरुरिह" आदि में नहीं। इसमें विलास का गन्ध है। इस वृक्ष के लिए "विलसति पुरतः" कहना इसका उपहास है। उपहास भी नीरसता से भरा हुआ सीधा-सपाट चला गया है; प्राण के उच्छ्वास से तरंगायित नहीं हो सका। जान पड़ता है, कनिष्ठ के ऊपर जैसे पिता की आसन्न यात्रा का भार भी उस समय नहीं था। पितृहीन होने पर भी उसके ऊपर ज्येष्ठ की छत्र-छाया जो थी। उसका यह सौभाग्य अभिनन्दन के योग्य है, चाहने के योग्य है। पर उसके ऊपर कोई भार नहीं था, कोई दायित्व उसे भीतर से प्रेरित नहीं कर रहा था, इसीसे उसके वाक्य में प्राण नहीं आ सका। उसने पिता के बताये हुए उस सूखे वृक्ष

को जैसे देखा ही न हो। उस समय वह, जान पड़ता है, कल्पना लोक की किसी ललितलता के सरस निकुंज में जा बैठा था। और वहीं से जैसे किसी तरह उसने पिता की आज्ञा का पालन कर दिया हो। इसीसे उसकी बात मे वास्तवता नहीं आ सकी। जब तक कहीं कोई भार न हो, दायित्व न हो, तब तक साहित्य का उद्रेक नहीं होता। बीज को मिट्टी के नीचे दबना पड़ता है, अंगो को गला देने वाली पीड़ा वहन करनी पड़ती है। इसके विना उसमें से किसी माधवी लता का उद्गम भी नहीं होने पाता।

ज्येष्ठ बन्धु ने उस सूखे वृक्ष को देखा था, उसकी शुष्कता का अपने हृदय में अनुभव किया था। कल्पना लोक मे जाकर वह भटका न था, इसीसे इतने थोड़े शब्दो में उस वृक्ष का ऐसा विशद चित्र उससे बन पड़ा है। "शुष्को वृक्षः" कहते ही आँखो के आगे नीचे से ऊपर उठता हुआ एक ऐसा वृक्ष दिखाई देने लगता है, जिसमे अब कोई गाँठ-सी पड़ने वाली हो। कण्ठ को यहाँ जो झोक सँभालनी पड़ती है, वह इस वृक्ष की ही है। इसके बाद "तिष्ठति" तक फिर उसके तने को ऊपर उठने का मौका मिलता है। वहाँ से "त्" के द्वित्व की ठोकर खाकर टेढ़ा-मेढ़ा होता हुआ वह फिर ऊपर की ओर बढ़ जाता है। वाक्य का उच्चारण करते करते मानस-पट पर अलक्षित रंगो में सूखे वृक्ष का एक ऐसा चित्र अंकित होता जाता है, जिसे एक वार अन्तर्दृष्टि से देख लेने पर भुलाया नहीं जा सकता।

भाषा इसकी ऊबड़-खाबड़ है। वह उचित ही है। अर्थ न समझने वाले को भी वह शुष्कता का बोध करा देगी। उसके कारण वर्णित चित्र ऐसा हो गया है कि नीचे लिखा हुआ परिचयात्मक गद्य पढ़ना आवश्यक नही रहता, चित्र का आशय अपने आप सुस्पष्ट हो जाता है।

कादम्बरी एक से एक सुन्दर चित्रों की मनोरम चित्रशाला है। उसमे कहाँ कहाँ इतने थोड़े में ऐसे ही अन्य जीवन्त चित्र हैं, यह बात पण्डितजन ही बता सकेंगे। मैं तो इस सूखे वृक्ष के नीचे खड़ा होकर उस अनादृत और लाञ्छित चितेरे कवि के चरणो में अपना नम्र प्रणाम ही निवेदित कर रहा हूँ। उसकी किसी दूसरी अंकनचातुरी का फल हमारे साहित्य को प्राप्त नहीं, यह हमारा दुर्भाग्य है। अपनी इस छोटी और आकस्मिक कृति मे ही सूखे वृक्ष को उसने जो चिरजीवन और सजीवता दे रक्खी है, उसीके लिए हम उसके चिरऋणी रहेंगे।

मार्गशीर्ष शुक्ल १९९५

छुट्टी

सामने एक पत्र आ गया है। इसमें बच्चे ने अपने अध्यापक से छुट्टी चाही थी कि उसे ज्वर हो आया है। इस

पत्र को लिखे बहुत समय नहीं बीता, कुछ ही पहले की बात है। उस समय बच्चा नहीं जानता था कि वह सदा के लिए छुट्टी ले रहा है, अध्यापक भी नहीं जानता था कि वह ऐसी छुट्टी दे रहा है, जो कभी पूरी न होगी।

फिर भी, जो सोचा नहीं जाता, जिसकी कल्पना नहीं की जाती, वही हो जाता है। बच्चा लगभग दो महीने तक ज्वर और ज्वरमुक्ति का कष्ट भोगकर चला गया है। अध्यापक को अपने रजिस्टर से उसका नाम हटा देना पड़ा है।

अध्यापक और कर ही क्या सकता था? उसे अवकाश नहीं कि प्रतिदिन उस छुट्टी की नई स्वीकृति देता रहे। उसका रजिस्टर छोटा है। उसमें इतनी गुंजाइश कहाँ कि वह ऐसी बड़ी छुट्टी उसमें दर्ज किये रह सके।

और, जान पड़ता है, हमारा यह संसार भी ऐसा ही है। इसमें भी जैसे स्थान की, अवकाश की, अधिकता नहीं। यह अपनी सीमा के भीतर बहुत छोटा है। इसे छोटा कह रहे हैं, इससे इसके कर्ता की निन्दा नहीं होती। उसकी छोटी कृति भी ऐसी है, जिसे मनुष्य की तराजू तौल नहीं सकी, जिसे मनुष्य के डग माप नहीं सके। पृथ्वी की माप-तौल के लिए ज्ञान का सहारा लेना पड़ता है, और ज्ञान स्वयं ईश्वर है। तो उसकी कृति यह संसार इतना छोटा क्यों है? मनुष्य के लिए इतना विपुल, इतना विस्तीर्ण होकर भी यह इतना छोटा क्यों है? एक बच्चा तक इसकी सीमा लाँघकर इसके दूसरे पार उतर जाता है।

इसके नद, नदी, समुद्र और वन-पर्वत उसे रोककर नहीं रख सकते। इसे भी एक अध्यापक की भाँति अपने रजिस्टर से उसका नाम हटा देना पड़ता है।

कहा जाता है, इस संसार का रूप विराट् है। पता नहीं, कब से यह चल रहा है। पता नहीं, कब तक यह चला जायगा। युग, युगान्तर और मन्वन्तर इसके एक-एक दिन हैं। समुद्र मे एक डुबकी लेकर अपनी पृथ्वी के साथ जिस दिन यह ऊपर उछल पड़ा था, वह इसके लिए पुरानी बात नही। जब फिर इसके निमज्जन की बारी आ पहुँचेगी, वह समय भी इसके लिए दूर का न होगा। वह ऐसे होगा, जैसे गरमी की ऋतु में हमारा दुबारा का स्नान। इसकी इस उन्मत्त क्रीड़ा का पार नहीं मिलता ! यह दौडा चला जा रहा है। बीच मे कहीं साँस लेने के लिए इसे रुकना नही है, कहीं किसी ओर देखना-सुनना नहीं है। शून्य में, सपाट मे, जैसे किसीने बड़े जोर के साथ इसे फेक दिया हो। इस दौड़ में इसीसे जैसे अपना बल इसे नही लगाना पड़ता। सब कुछ इसे सहज है, अनायास हैं। तूफानो के तूफान पर सवार होकर यह जा रहा है। इसके मार्ग में कोई बाधा नहीं है, कोई रोक नहीं है। बीच में जो कुछ आ पड़ेगा, कुचल जायगा, टूटकर टुकड़े-टुकड़े हो जायगा; चूर-चूर होकर धूल में मिले बिना न रहेगा।

काँप उठता हूँ, इसका यह विराट् रूप सोचकर। "भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।" इसे मै देख नहीं सकता, इसकी

कल्पना नहीं कर सकता। मुझे अर्जुन की भाँति दिव्य दृष्टि नहीं मिल सकी। मिलती तो उसे झेल नहीं सकता था। अन्धे के हाथ में वह किसी असहनीय दूरबीन का बोझ होती। उसे लेकर मैं करूँगा क्या? जो कुछ मुझे मिला है, वही कम नहीं। मै छोटा हूँ, छोटे रूप में ही संसार को मैंने देखा है। इसकी ट्रेन के जिस डिब्बे में मैं हूँ, वहाँ इसकी भयंकर गति का अनुमान नहीं होता। जान पड़ता है, जैसे यह चल ही न रहा हो। इसका यह शान्त-रूप इसका नहीं है, यह नहीं कह सकता। यह इसीका है। इस छोटे रूप में ही यह मुझे उपलब्ध हुआ है। मैं इसीको प्यार करता हूँ।

प्यार तो करता हूँ, पर असन्तोष भी कम नहीं है। यह इतना छोटा हुआ ही किसलिए? क्यों यह एक बालक को अपने स्मृति-पट से पोंछ देना चाहता है? एक दिन जिसे इसने अपने अङ्क में लिपटाया था, अपने आँगन में ऊधम मचाने दिया था, अपने दधि-माखन को लुटने देकर परिपुष्ट किया था, उसीको यह एक क्षण में भुला देना चाहता है। कहता है, मुझे अवकाश कहाँ? मुझे दूसरे बहुत-से काम करने को हैं। अनन्त अक्षौहिणी सेनाओं से मुझे निबटना है। मेरा कार-बार उस छोटे-से वृन्दावन में नहीं चल सकता।

क्या,—क्या वह वृन्दावन छोटा-सा है? हो, छोटा-सा ही हो। छोटा होकर भी वह ओछा नहीं है। उसमे स्थान है, उसमें अवकाश है। वह याद रखना जानता है। गये हुए को

भुला देना नहीं चाहता। देखते हो, वहाँ उस यशोदा माता को? उसका गोपाल उसे छोड़ कर चला गया है। कहाँ गया है, कितनी दूर गया है? कुछ ठीक नहीं है। ठीक इतना है कि अब वह लौटकर नहीं आयगा। वह नहीं आयगा, इसलिए माता उसे भुला न देगी। उसके छोटे-से हृदय में विराट हाहाकार उठ खड़ा हुआ है। सारी पृथ्वी उसके लिए जैसे सूनी पड़ गई है। सारी पृथ्वी में जैसे उसने अपने ही गोपाल को फैला रक्खा था। उसके बिना वह जी नहीं सकती। परन्तु नहीं, वह जियेगी। उसके भीतर में, उसके बाहर में उसका गोपाल जो है। उसीके लिए वह जियेगी। क्रूर विधाता ने उसकी गोद से उसे बिलग कर दिया है। उसके हृदय से वह भी उसे बिलग नहीं कर सकेगा। वह चिल्ला रही है,—गोपाल! गोपाल!—गोपाल! चिल्लाना कहाँ? यह बोलना भी नहीं। गला उसका बैठा हुआ है। स्वर उसका साथ नहीं दे पाता। फिर भी वह चिल्लाती है, बार बार चिल्लाती है, पुकारती है—गोपाल! गोपाल! पुकारते पुकारते वह बेहोश हो गई है। अपनी बेहोशी में भी अपना गोपाल उसे नहीं भूला! उसका चेतन, उसका अचेतन, सब कुछ गोपालमय है। उसकी इस क्षीण गिरा से पास की गोप-गोपियाँ तक अपनी पीड़ा भूल बैठी हैं। सबके सब लुटे-से खड़े हैं, स्तंभित हैं, मूक हैं। उस पुकार के बोझ से जैसे हवा का दम घुट गया है, अन्धकार घनीभूत हो उठा है, यमुना अपनी गति खो बैठी है। वह पुकार

माता की पुकार है। पृथ्वीमण्डल को पार कर वह जैसे कम्पित नक्षत्र-लोक तक पहुँच गई है।

गोपाल इतना निर्मम है कि इतने पर भी लौटकर नहीं आता। वह इतना बहरा है कि माता की यह गिरा भी उस तक नही पहुँच पाती। इस पुकार को अनन्त काल ने अपने हृदय पर धारण कर रक्खा है। कितने ही महाभारतो की रण-हुंकार मे यह डूबी नही है। डूब भी नही सकती। यह चिरन्तन हो गई है। चिरन्तन होने के कारण ही पुरानी नहीं पड़ती, सदा-सर्वदा नई बनी रहती है।

इसीसे आज तक प्रत्येक माता के हृदय मे वह बसी हुई है। आज तक प्रत्येक माता का हृदय उसी पीड़ा के भार से काँपता रहता है। माता बेचारी नहीं जानती कि उसकी जाति यशोदा की है। उसका आज का गोपाल भी छली है, उसे माता की पीर नहीं। वह किसी दूसरी की सन्तान है। इस माता को छलने के लिए ही वह यहाँ आया था। पर, जान पड़ता है, इस गोद को छोडकर गोपाल ही छला गया है, उसकी माता नही। माता का हृदय अध्यापक के रजिस्टर की भाँति छोटा नही है। उसमे से, इतना सब होने पर भी, वह अपने गोपाल का नाम हटने न देगी।

इस तरह माता क्या अपने गोपाल को पा लेगी? उसे वह पा नही सकती, उसकी वाणी सुन नहीं सकती, खेलते हुए अपने आँगन मे फिर उसे देख नहीं सकती। उसकी छाती में

स्नेह का कितना ही दूध क्यो न उमड़ उठे, क्यों न कितनी ही दुर्वह वेदना से वह दब जाय। पूर्व का सूरज पश्चिम में क्यो न उगने लगे, तब भी माता का गया गोपाल लौटने का नही। यह संसार ऐसा ही है। इसे इसी रूप में सहन करना होगा। पर बेचारी माना करे क्या? संसार जिसे भुलाने के लिए तुला बैठा है, उसे वह भुला नहीं सकती। शोक ही उसका सहारा है। संसार जिसे नही रखना चाहता, उसे बचाये रखने के लिए शोक ही अमृत है। उसका अशोक आज इस श.क मे आ बैठा है। स्मृति में ही गये हुए का जीवन रक्षित रहता है। मृत्यु की पराजय यहीं है। माता की आँख के आँसू सूख जायँगे, कंठ का हाहाकार उसका साथ छोड़ देगा; पर अपने भीतर जहाँ उसने अपने गोपाल को पकड़ रक्खा है, वहाँ से वह उसे जाने न देगी। उसकी हठ के आगे विधाता को भी झुकना पड़ेगा।

वह गायों के लौटने का स्वर सुनाई पडता है। सन्ध्या हो आई है। थनो में दूध भरकर बच्छों की माताएँ दौड़ी आ रही हैं। मार्ग मे गोधूलि फैल गई है। अन्धेरा छाने लगा है। बच्चे मदरसे से लौटकर आ गये हैं। घर-घर में सन्ध्या के दीपक जाग उठे। सब कुछ हुआ, वही एक बच्चा लौटकर नहीं आया। घर पर उसको पोथियो का बस्ता बँधा पड़ा है। मदरसे में किसीने उसकी सुधि नहीं ली। अध्यापक उसे भूल गया है। भूली नहीं है, बच्चे की बेचारी माता। उसके हृदय-पट में अब

भी वह अङ्कित रहेगा। वहाँ स्थान है। वहाँ से उसे छुट्टी नहीं मिल सकती।

पौष अमावस्या १९९५

साहित्य में क्लिष्टता

साहित्य में प्रसाद गुण की सराहना के मूल में क्लिष्टता का विरोध पाया जाता है। जहाँ किसी तरह की प्रशंसा है, वहीं किसी न किसी तरह की निन्दा भी होगी। निन्दा मे एक दुर्गुण है, वह आग की तरह झपटकर आगे बढ़ जाती है, प्रकाश की तरह निज के क्षेत्र मे प्रदीपित नही रहना चाहिए। क्लिष्टता के विषय में ऐसा ही हुआ है। जहाँ वह उचित स्थान पर है, वहाँ भी वह आज सहन नहीं की जा सकती।

सरलता को चाहना अस्वाभाविक नहीं है। प्रारम्भ से ही मनुष्य की प्रवृत्ति यह रही है कि उसका कार्य सरलता से हो। हथियार उसने इसीलिए बनाये कि आखेट की कठिनाई दूर हो जाय। खेत में उसने अन्न के बीज इसीलिए फेंके कि उसका आहार सुगम हो। घर उसने इसीलिए खड़ा किया कि उसे सरदी, गरमी और बरसा का कष्ट न उठाना पड़े। सब तरह की सरलता पाने के लिए, न जानें उसने कितने कष्ट अब तक झेले हैं। आदिम युग से उसका यह प्रयत्न बराबर चला जा रहा है।

इसके लिए वह कितनी क्लिष्टता के बीच में होकर जा रहा है, इसका हिसाब नहीं। यह देखकर कभी कभी ऐसा भी लगता है कि क्लिष्टता ही कहीं उसका ध्येय न हो!

यह हो कैसे सकता है? पथ पर हम चलते हैं, इसलिए वही सब कुछ नहीं हो सकता। वह तो साधन है। बात यह है कि आगे की विश्रामशाला में पहुँचने लिए ही हम लम्बी-लम्बी घाटियाँ पार करते हैं, बड़ी-बड़ी नदियाँ तैर जाते हैं और अथाह और विस्तीर्ण समुद्रों को देखकर भी भयभीत नहीं होते।

संसार में ऐसे भी कुछ लोग हैं, जो पथ की क्लिष्टता देखकर डर जाते है। ऐसे जन बच्चों की जाति के है। ये चाहते हैं कि कोई गोद में लेकर सुलाता हुआ ही उन्हें ठीक स्थान पर पहुँचा दे।

किन्तु इस तरह पथ की आवश्यकता नष्ट नहीं होती। पथ क्लिष्ट है, इसी कारण घर भी सुखद, सरल और चाहने योग्य हो सका है। संसार के जितने पथ हैं, यदि वे सब के सब किसी उपाय से, किसी मन्त्र-बल से, घर ही घर हो जायँ, तब?—जरा हम कल्पना करें, तब क्या हो? उस समय हमारे घर इतने बड़े जेलखाने हो उठेंगे कि वहाँ से छूटकर भाग बचने का उपाय नहीं रहेगा। वहाँ के सुख की सेज उस समय काँटों की हो उठेगी।

साहित्य के सम्बन्ध मे आज कल कुछ ऐसा ही चाहा जा रहा है। हम उसका आनन्द तो लेना चाहते है, पर लेना ही

लेना चाहते है; कुछ देने के लिए तैयार नहीं है। लेने के लिए देना पहली शर्त है। इसे पूरा किये बिना जो कुछ मिलता है, वह 'प्राप्ति' नहीं, उसे भिक्षा कहते है।

साहित्य के दरबार में हम भाषा के मार्ग से पहुँचते हैं। मार्ग मे कुछ न कुछ कष्ट होगा ही। बचने का उपाय ही क्या? उपाय यही है कि चला जाय। जो चलना चाहते नहीं और कहते यह हैं कि दरबार सार्वजनिक नहीं, चलने वालों के ही लिए है; वे किसी तरह नही समझेंगे। उनमे निबटने के लिए यही कह देना बस होगा कि आप ठीक कहते हैं!

दरबार सार्वजनिक है; पर पथ उनके लिए है, जो उस पर चल सकते हैं। भाषा और साहित्य का अन्तर वही है, जो पथ और दरबार का है। जिस तरह एक सीमा पर पहुँचकर पथ ही दरबार हो जाता है, उसी तरह एक जगह भाषा ही साहित्य बन जाती है।

भाषा और साहित्य का यह सम्बन्ध इतना गहरा है कि कभी कभी भ्रम हो जाता है। एक दूसरे को हम ठीक से समझ नहीं पाते। किसी भाषा में 'किन्तु' की जगह 'मगर' अथवा 'मगर' की जगह 'किन्तु' देखकर ही हम यह कहने लगते हैं कि यह साहित्य सबके लिए नहीं है, क्योकि यह दुरूह है।

यह वैसी ही हास्यास्पद बात हुई, जैसी कि मूर्त्ति देखक हम उसे खोटा पत्थर समझ लें। कहें कि कौन था, जिसने इ इस तरह बिगाड़ डाला है? इसमें कहीं उँचाई है और क

निचाई और कहीं छोटी-छोटी रेखाएँ; साफ सपाटपन तो इसमे एक जगह भी नहीं दिखाई देता। यह न हमारे लेटने के काम आ सकता है और न बैठने के ही।

साहित्य की दुरूहता बहुत कुछ हमारी इसी तरह की है। पत्थर को हम समझ लेते हैं। इसमें हमें श्रम नही पड़ता। देखा और तुरन्त ध्यान में आ गया कि इससे हम अपने शत्रु का सिर चकनाचूर कर सकते हैं और दूसरा यह हमारे नमक-मिर्च का चूरा करने के उपयुक्त है। पत्थर के साहित्य का यह अंश इतना स्पष्ट है कि जंगली आदमी को भी इसे समझने के लिए कष्ट नहीं करना पड़ा। इस सरलता के लिए पत्थर के निर्माता के प्रति उसके मन में कृतज्ञता का भाव उठा होगा।

अपने प्रारम्भ मे भाषा इसी पत्थर की भाँति सुबोध थी। खाने-पीने और उठने-बैठने के काम मे उसने सहायता पहुँचाई और उसका काम पूरा हुआ।

यह उसका बचपन था। बचपन की आवश्यकताएँ थोड़ी होती हैं। इसीसे थोड़े शब्दों में ही उस समय काम निकल जाता है। कभी अधिक की आवश्यकता होती भी है, तो रोने में, चिल्लाने में, काट खाने में, और बहुत हुआ, तो हँस उठने मे हम इसकी पूर्ति कर लेते हैं।

बचपन किसीका रहता नही है। उसकी सरलता के लिए हम कितना ही विलाप क्यो न करें, आगे के दुरूह पथ में जाकर वह कहाँ जा छिपा है, इसका पता तक हमें नहीं

मिलता। एक बात है। वह चला जाता है, इसीलिए उसके प्रति हमारा आकर्षण इतना अधिक है। यदि वह निरन्तर हमारे पास बना रहता, तो हम न जानें कितना उसे कोसते। हमारे मित्रों मे अनेक तरुण अब भी ऐसे हैं, जिनके लिए कहा जाता है कि उनका बचपन, अर्थात् उनकी मूर्खता, अब तक गई-नहीं। इसके लिए उन्हे अपने बड़ो से कितना भला-बुरा सुनना पड़ता है, इसकी चर्चा रोचक न होगी।

क्या भाषा का बचपन सदा एकरस बना रहता ? चिर कुमारी या चिर विधवा के प्रति हम श्रद्धा या अनुकम्पा का उच्च भाव रख सकते है। पर यह होना हमसे कठिन था कि जीवन भर किसी बालिका को गोद में दबाये हुए उसे चूमते-पुचकारते रहते। विशेष कर ऐसी हालत में और भी, जब कि वह गूँगी हो। ऐसी भाषा हमारे किस काम आती ? जीवन के जिस पथ पर हम आगे बढ़ते है, उसके लिए माता अपेक्षित हो सकती है,—हमें आशीर्वाद करने के लिए। बहिन चाही जा सकती है,—हमें हमारे संकट में रक्षा-सूत्र बाँधने के लिए। और हाँ, प्रेयसी; वह आवश्यक हो सकती है,—हमे अपना पौरुष प्रदीप्त करने के लिए। उस अविकसित बोली के द्वारा इनमे से हमारी किस आकांक्षा की पूर्त्ति होती ? किसीकी भी तो नहीं। इसलिए उसका विकास हमारे साथ साथ होना उचित ही था। नही तो उसे भी हम अपने बचपन के गुड्डे-गुड़ियों के साथ या तो तोड़-मरोड़ डालते या किसी ऐसे सुरक्षित

ठिकाने रख छोड़ते, जहाँ के ढेर में से हमीं उसे कभी खोज न पाते । *

आदमी जंगली से बदलकर हो गया है मनुष्य, भाषा बोली से बदलकर हो गई है साहित्य । यह ठीक ही हुआ है । भले ही इस कारण दोनों की पहली सरलता मिट गई हो । भले ही इस कारण दोनो को दुरूह होना पडा हो ।

जीवन का दुरूह की ओर अग्रसर होना अप्राकृतिक नहीं । सरलता उसकी इसीमें है । पानी का सोता फूटते ही टेढ़ा-मेढ़ा बहने लगता है । इसके लिए उसे मूर्खता का दोषी नहीं करार दिया जा सकता । जिस पथ से वह चलता है, उसकी अपेक्षा उसके लिए सीधा और कौन पथ होगा ? आगे वह किसी नदी में जाकर गोता खा जाता, इसके लिए भी उसकी निन्दा नही की जा सकती । वह तो किसी अगम-अथाह का यात्री है । नदी से नद में और नद से किसी क्षार जल-राशि में ही जाना उसका ध्येय है ।

जहाँ प्राण का उच्छ्वास है, वहीं ऐसा दिखाई देगा । साहित्य मनुष्य का बनाया है, फिर भी यह निर्जीव होने के लिए नहीं बना था । गणेशजी के जन्म के सम्बन्ध में एक कथा है । पार्वती माता ने मिट्टी का एक पुतला बनाया और अपनी उँगली चीरकर उसका अमृत उसे पिला दिया । यही गणपति हमारे वाङ्मय का विघ्नविनाशन देवता है । साहित्य की सृष्टि भी ठीक इसी प्रकार हुई है । मिट्टी के किसी पुतले को अपना

रक्तदान करके मनुष्य ने उसे लौकिक से अलौकिक कर दिया है। उसके प्रणोच्छ्वास का कहना ही क्या ? अबाध होकर वह स्वतन्त्र है। इसी कारण वह अपने बनाने वाले से भी ऊँचा उठा दिखाई देता है। पार्वती के विवाह मे गणेशपूजन की बात कही जाती है, उसका आशय भी यही है। वह यही प्रकट करने के लिए है कि व्यक्ति स्वयं अपने में बड़ा नहीं, बड़ो है उसकी कृति।

मनुष्य बड़ा होना चाहता था, एक से बहु होना चाहता था, इसीकी पूर्ति के लिए उसने भापा का निर्माण किया। पर बड़े होने की कुछ सीमा भी है ? सीमा तभी तक है, जब तक कि नीचे की धरती है। ऊपर आकाश में उठते ही सीमा का बन्धन टूट जाता है। भाषा तब तक धरती पर थी, जब केवल यह बता देना उसका काम था कि यह पत्थर है। पत्थर की उपयोगिता जानकर मनुष्य के मन मे पत्थर बनाने वाले के प्रति आनन्द का, कृतज्ञता का, भाव उठा। यह असीम था। यह इतना व्यापक था कि किसी एक जगह पकड़ा नहीं जा सका। परिमित शब्द जैसे उसे छू तक नहीं सके। पर वह रुकता कैसे ? उसके मूल में आनन्द जो था, कृतज्ञता जो थी। इसीलिए वह अजस्रधाराओ में एक साथ फूट पड़ा। भाषा इसी जगह साहित्य का रूप धारण करती है। इसी जगह एक छोटा सोता अनन्त दूसरे सोतों से मिलकर एक बड़ा नद होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा में से साहित्य का

उद्भव उसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार बचपन में से यौवन का। यौवन भी कम खिलाड़ी नही है। अन्तर इतना कि बचपन के खिलौने उसे रुचते नहीं हैं। हाथ के झुनझुने की छोटी झनकार ही उसे सन्तुष्ट नही कर पाती। वह कुछ अधिक चाहता है। इसीलिए वह अपने स्वर को घुमा-फिराकर, चौड़े से सकड़े में आकर और सकड़े से चौड़े मे जाकर, पहले तो अपने आप कठिनता उत्पन्न करता है और फिर उसी कठिनता से सङ्गीत का नया ही रस लेता है। और इसी तरह अपने घर की बगीचो में अपने स्वजनो से रक्षित होकर चलने में अपनी दौड़-फिर की प्यास भी वह नहीं बुझा पाता। वहाँ उसे ऐसा लगता है, जैसे अपने पैरो वह चल ही न रहा हो। पैरो का यह अपमान वह सह नहीं सकता। इसीलिए वह अकेला, अरक्षित ही चल पडता है, किसी बहुत दूर के लिए। वहाँ के लिए, जहाँ चारों ओर भयंकर गहनता है। जहाँ स्वजनों की छाया नही है। जहाँ माता की ममता नहीं है। जहाँ दूर तक दुर्गम अरण्य फैला हुआ है। वह जानता है, इस सबके उस पार वह उस विराट नदी के दर्शन करेगा, जिसका मधुर और गम्भीर घोष उसने कल्पना की सहायता से यहीं पर सुन लिया है। उसने उसे देखा नही है, पर वह जानता है कि वह बहुत दूर नहीं है। दूर भी हो तो उसके पैरों में बल है और मन में शुद्ध संकल्प। सारी कठिनायो को रूँदते हुए, जिस समय वह वहाँ पहुँचकर अवगाहन कर लेगा, उसी समय मार्ग की सारी

कषलुता और भ्रान्ति एक साथ धुल जायगी। उस समय उसे जान पड़ेगा कि वीच की सारी कठिनाई यहाँ के लिए सरलता का ही रूपान्तर थी।

माघ १९९५

आशु रचना

अपने मित्र को मैंने अपनी एक बहुत बढ़िया रचना पढ़ने को दी। नाम ? नाम नहीं बताऊँगा। नाम बता देने से दूसरे के लिए वह बहुत घटिया भी हो सकती है। कम से कम जहाँ तक इस निबन्ध के लिए उसका सम्बन्ध है, कोई दूसरा भी उसे बहुत बढ़िया मान ले, तो किसीको बहुत बड़ी हानि न होगी। किसी तरह भी नहीं।

पढ़कर मित्र महोदय प्रसन्न दिखाई दिये। ऐसे "समान-धर्मा" को निकट पाकर जी कृतज्ञता से भर गया। सन्तोष हुआ कि भवभूति की तरह "कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी" को परिक्रमा मुझे नहीं करनी पड़ी। सौभाग्य प्रबल दिखाई दिया। पर सम्पत्ति और सौभाग्य खतरे से खाली कभी नहीं होते। मित्र महोदय पूछ ही तो बैठे—कितने समय में तुमने यह रचना लिखी है ?

जो गाना सुनने जाते हैं, भले ही सबके सामने न गाते

हों, यहाँ तक कि अपने सामने भी गाने में उन्हें झिझक होती हो, पर होते वे सबके सब गायक ही हैं। इसी तरह जो कुछ पढ़ने बैठते हैं, वे भी सबके सब लेखक ही होते हैं। अतएव यहाँ यह समझने में किसीका कठिनाई न होगी कि लेखक के लिए यह प्रश्न कैसा बेढब था।

एक जरा सी ठोकर मे मेरी बहुत बढ़िया रचना बहुत हलकी सतह पर आ उतरी। बहुत प्रयत्न किया कि सम्मान अछूता रख सकूँ। बीमारी का बहाना लिया, दूसरे कामों में जी उलझे रहने की बात कही, कागज-कलम और पेंसिल के मत्थे दोष मढ़ा; पर किसी उपाय से मेरी वह रचना अपना सम्मान न बढ़ा सकी, जिसे लिखने में मैंने उतना अधिक समय नष्ट कर दिया था। मित्र महोदय सज्जन पुरुष हैं। केवल हँसकर ही उन्होंने अपना आशय प्रकट कर दिया। जहाँ एक फीकी हँसी से काम चल सकता है, वहाँ किसी बड़े हथियार की आवश्यकता क्या? जो गुड़ दीन्हे ही मरे, माहुर दीजे काहि।

यह गुड़ माहुर से खतरनाक है। गुण का पेशा मारने का नहीं, इसलिए उसका उपाय हमारे पास नहीं रहता। उसे हम विना प्रतिरोध के निगल जाते हैं। यही मेरे साथ हुआ। हीनता को अस्वीकार करने का अवकाश ही मुझे नहीं मिला। न जानें कहाँ की ग्लानि जी में आ जमी और उस रचना के प्रति एक साथ विद्वेष का भाव उठ खड़ा हुआ। जान पड़ा, जैसे किसी पिता को अपनी ऐसी कन्या की आयु बतानी पड़ी

है, जिसका विवाह उचित अवस्था के पार होजाने पर, हाल में ही बड़ी कठिनाई से किया जा सका हो।

लेखक को पिता की इस कठिनाई का सामना प्रायः करना पड़ता है। नतीजा होता है कि या तो वह रचना को चाहता ही नहीं, या फिर उसकी जन्मकुण्डली गलत बनाकर उपस्थित कर देता है।

यह अनुचित है। यदि कोई रचना देर में लिखी जाकर प्रकाशन योग्य हुई है, तो इसमे लज्जित होने का कारण नहीं। योग्य वर के मिलने पर ही कन्या विवाह के योग्य होती है, अवस्था के वर्ष-मास और घड़ी-पल गिनकर नहीं। जो इसके अनुसार चलते हैं, पिता होने के अधिकारी भी वही हैं।

किन्तु मेरे मित्र ने मेरे प्रति न्याय नहीं किया। वे मुझे वादरायण हुआ देखा चाहते थे। चाहते थे, मेरी लेखनी में गणेशजी आकर बैठ जाते और उसमें से एक नया 'महाभारत' निकल पड़ता। मानता हूँ, वे मुझे गौरव ही देना चाहते थे। पर व्यक्ति के अनुरूप न होने पर गौरव भार ही नहीं होता, वरन् मारक तक हो उठता है।

यह एक मानी हुई बात है। पर गौरव के मोह के लिए किया क्या जाय? लोग इसके मायाजाल में किसीके कहने से नहीं फँसते, किन्तु अपनी ओर अपने आप यह हमें खींच लेता है। इससे बचना आसान नही। इसीसे प्रायः हमें यह सुनने को मिलता है कि अभी रास्ते मे आते आते मैने यह कविता

लिख डाली है। और वह लेख ? वह आपको बेहद पसन्द आया, इसके लिए धन्यवाद। उसे बड़ी विचित्र परिस्थिति में लिखाना पड़ा था। नित्य कर्म से निवृत्त भी नहीं हो पाया था कि वह महाशय आ धमके। किसी तरह नहीं मानें, तब खड़े ही खड़े लिखाकर किसी तरह उनसे जान छुड़ाई !

लेखक और कवि की यह असाधारण क्षमता देखकर चमत्कृत होना पड़ता है। 'वाह-वाह' किये विना नहीं रहा जाता। गीता की रचना ऐसे कठिन समय में हुई, जब दोनो ओर की सेनाएँ लड़ने के लिए तैयार खड़ी थीं। आज का लेखक भी वह विचित्र गुण रखता है ! उसे भी ऐसी परिस्थिति में लिखना पड़ता है, जिसमें साधारण जन के छक्के छूट जायँ।

वह जिस शीघ्रता से लिखता है, उसी शीघ्रता से उसे प्रशंसा भी मिल जाती है। आज इसीसे रचनाओं के ढेर के ढेर लगे दिखाई देते है। लेखक को एक बहुत बड़ी सहूलियत भी है। छापे की मशीन गणेशजी की तरह भारी शरीर लेकर सामने डटी है और लेखक धाराप्रवाह बोलता जाता है। दोनों में होड़ बदी है कि देखें अन्त में जीत होती है किसकी।

इसमें चमत्कार है, यह मानना पड़ेगा। पर साहित्य का उद्देश्य कोरे चमत्कार के ऊपर नहीं टिका है। यही गुण यदि उसका सर्वोपरि गुण होता, तब बाजीगरों के काम की गणना भी साहित्य में हुई होती। ऐसा साहित्य जीवित नहीं रह सकता।

बादलों के बीच बिजली की भाँति चमकर ही लुप्त हो जाने के लिए वह है।

कठिनाई यह है, हम इसे मानना नहीं चाहते। हम जो कुछ लिखते या लिखाते या बोलते हैं, वह सबका सब हमारे निकट चिरन्तन अथवा शाश्वत होता है। हमारे संसार में जड़ का अस्तित्व नहीं है; जो कुछ है मानो, चेतन ही चेतन है। यह कहने में इसीसे हमें संकोच नहीं होता कि इस रचना को मैंने इतनी जल्दी में लिखा है, किसी तरह के सोचने में, विचारने में, समय नष्ट नहीं करना पड़ा।

उस बोलने से लाभ क्या, जिसके पीछे सोचने का कष्ट न हो? नाटक के लिए नेपथ्य की आवश्यकता होती है। इसके लिए वह संकोच का अनुभव नहीं करता। यह साहित्य के लिए भी आवश्यक है। इसके बिना वह एक स्वाँग रह जायगा। किसी रचना को सपाटे में लिखकर गर्व करना यह प्रकट करता है कि हम साधना का महत्व स्वीकार नहीं करते।

इसका अर्थ यह भी होता है कि हम सिद्ध हैं। साधना हमारी कभी की पूरी हो चुकी। पर ऐसे व्यक्ति को साहित्यिक न होकर पैगम्बर होना चाहिए। उस समय वह जो कुछ लिखेगा या बोल देगा, सम्मान उसीको मिल जायगा। अपने कथन में अर्थ भरने की आवश्यकता उसे न होगी, अर्थ अपने आप उसकी वाणी के पीछे दौड़ उठेगा।

साहित्यसाधक को हम पैगम्बर हुआ नहीं देखा चाहते।

अपने आपमें ही वह कुछ छोटा नहीं है। आशु रचना का चमत्कार दिखाकर किसीको मुग्ध करने की आवश्यकता ही उसे कौन-सी? उसकी अपनी साधना से बढ़कर दूसरा कोई चमत्कार नहीं हो सकता। पुराणो में ऋषियो, मुनियो की तपस्या का उल्लेख है। सहस्रो बरस की तपस्या वे करते हैं। जानें कितना क्या नही करते, जानें कितना क्या नहीं झेलते! इतने के बाद कही एक बार उन्हें अपने अभीष्ट का दर्शन होता है। वह अभीष्ट सस्ता नही है। किसी मशीन या कम्पोजीटर के ही इशारे पर वह दौड़ा नहीं आता। उसके लिए अपने आपको खपा देना होता है। उसके लिए "कालोह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी" की ओर ताकना पड़ता है। इतना सब कुछ जो कर सकता है, वही तपस्वी है; इतना सब कुछ जो सह सकता है, वही साहित्यसाधक है।

चाहता हूँ, मेरी रचना शाश्वत हो। क्या इसके लिए दस-बीस दिन की भी साधना नही कर सकूँगा? क्यो इसके लिए मैं दूसरे के सामने लज्जित होऊँ? मेरे लिए यह हीनता की बात नहीं है। है भी तो इस अर्थ मे कि मेरी साधना ओछी थी।

मेरी वह बहुत बढ़िया रचना मेरे मित्र को नही जँची। कारण यह कि लेखक उसे देर में लिख पाया था। मैं स्वयं उसे बहुत घटिया मान सकता हूँ। शर्त इतनी कि वह आशुरचना मान ली जाय। उसके पीछे साधना की महत्ता न थी।

माघ शुक्ल १९९५

घोड़ाशाही

प्राचीन भारत में चक्रवर्ती होने के लिए अश्वमेध किया जाता था। यज्ञ का घोड़ा छोड़ दिया जाता था और उसके पीछे पीछे रक्षक सिपाही चलते थे। घोड़े को स्वच्छन्दता रहती थी कि चाहे जिस ओर जाय। जो कोई उसे पकड़ता था, उसीके साथ लड़ाई छिड़ जाती थी।

ऐसे यज्ञ धार्मिकों के द्वारा ही किये देखे गये है। राम के अश्वमेध की बात हमने सुनी है, रावण के की नहीं। पाण्डवों के अश्वमेध का वर्णन पाया है, दुर्योधन-दुःशासनो को उसका अवसर नहीं मिला।

अश्वमेध के अनुष्ठान में धर्म की विजय और अधर्म के पराजय की घोषणा थी। उद्देश्य उसका यही था। यज्ञ में दीक्षित होकर जो उसका आयोजन करता था, उसके लक्ष्य में स्वर्ग की ऊँचाई रहती थी। भौतिक सुख की कामना से उसे दूर रहना पड़ता था। इसीसे ऐसे राजा "मृत्पात्रशेषाम्" विभूति लेकर, मिट्टी के बरतनो से ही अपना काम चलाकर, लज्जित नहीं होते थे। जनता उन्हें जानती थी। घोड़ा छोड़कर वे प्रजा को यह आश्वासन देते थे कि सबकी स्वतन्त्रता सुरक्षित है। किसी घोड़े अथवा पशु तक को कोई पीड़ित नहीं कर सकता। उसकी रक्षा के लिए सारे राज्य की शक्ति उसके पीछे है। अश्वमेध में यह आश्वासन न होता, उद्धत की चुनौती ही उसमें

होती, तब किसी जगह उसका सम्पन्न होना कठिन था। क्योंकि हमसे छिपा नही है कि भौतिक बल मे यज्ञ के अश्वरक्षक कहीं कहीं बालकों के द्वारा भी बुरी तरह हराये गये है।

इस तरह हम देखते है, घोड़े के माध्यम से एकबार प्राचीन भारत की सभ्यता प्रकट हुई है। वहाँ वह निर्भयता और स्वतन्त्रता का प्रतीक है।

बीच के युग मे घोड़े को लेकर दूसरी तरह की बात प्रकट हुई है। असंख्य घुड़सवार सेनाएँ भिन्न भिन्न दिशाओं से आकर हिन्दुस्तान पर आक्रमण करती है। यह आक्रमण पशुता का था, घोड़े की पीठ पर बैठे हुए मनुष्य का नहीं। घोड़े में पशुता की जितनी कमी थी, उसे उसके सवार ने पूरा किया; सवार में पशुता की जितनी कमी थी, उसे उसके घोड़े ने पूरा किया। दोनो एक दूसरे के पूरक थे। इस तरह यहाँ यह दिखाई देता है कि वहाँ प्रजा अरक्षित है। कहाँ से आकर कब मृत्यु अपना नाच नाचने लगेगी, इसकी निश्चिन्तता नहीं। युवक जीने के लिए नहीं, मरने के लिए तैयार हैं। किसीका भरोसा न करके अपनी रक्षा के लिए स्त्रियों ने वस्त्रों के भीतर या अपने केशपाश में स्वयं विष की पोटली छिपा रक्खी है। बच्चे दैव के आसरे हैं। दैव के आसरे भी इसलिए हैं कि पशुता में भी बच्चो के प्रति मोह पाया जाता है। घर और गाँव और पथ और घाट, यहाँ तक कि बड़े बड़े दुर्ग तक आशंका से खाली नहीं। घरो में आग लगाई जाती है, बाजार लूटे जाते हैं, अन्न के खेत खुरों से

रौंदे जाकर उजाड़ हैं। स्कूल और कालेज के इतिहास मे यह सब हमे अच्छी तरह बताया गया है। शकों और हूणो का किस्सा हमे मालूम है। मुगलो और पठानो के कारनामे हमसे नही छिपे। राजपूतो और मराठो के उत्पीड़न भी हमे हस्तामलकवत् है।

इस युग को हम सामन्तशाही का युग कहते हैं। यह अपने आप निन्दात्म हो गया है, इसलिए इसके लिए और कुछ कहने की आवश्यकता नही रह जाती।

इसके बाद ही हम आधुनिकता में आ उतरते हैं। सामन्तशाही समाप्त होती है और नये युग का आरम्भ होता है। पर घोडे का हमारा सम्बन्ध टूटता नही। उसका लोप नहीं हुआ। अबकी वार वह नये ही रूप में प्रकट होता है। अब वह हाड़-मांस का सजीव प्राणी नहीं। वह लोहे का है, ईस्पात का है। एक अन्तर और है। पहले आदमी उसे चलाता था, अब आदमी को स्वयं वही चलाता है। पहले जो सवारी थी, अब वह सवार हो गया है; जो सवार था, वह सवारी हो गई है।

यह नया घोड़ा है इंजिन, और यह नया युग है घोड़ेशाही का।

पता नहीं, इंजिन की ताकत के लिए 'हार्स पावर' शब्द का आविष्कार पहले पहल किसने किया। जिसने किया हो, किया है ठीक ही। विकासवाद के अनुसार सामन्तशाही का

विकास इस घोड़ेशाही में ही हुआ है।

सामन्तशाही में जो घोड़ा था, वह पशु था। पशु स्वयं बुरा नहीं, पशुता ही उसको बुरी है। इस युग का घोड़ा पशु नहीं है। यह सौभाग्य है या दुर्भाग्य?

कुछ हो, बुद्धि उसे आदमी को मिली है। इसीसे सब कहीं उसे टापों की टपटपाहट में धूल के पहाड़ नहीं उड़ाने पड़ते। हजार हजार घोड़ो की ताकत एक अपने में भरकर वह एक जगह जम जाता है। वहींसे वह हमारे घर को बिजली का प्रकाश देता है, वहीसे वह हमारे आँगन को स्वच्छ जल पहुँचा कर धोता है। विस्मय में डूब जाते है हम उसे देखकर। सरकस के सीखे जानवर की तरह हम उसे सभ्य जानवर कह सकते हैं।

यही कारण है, जिससे अब उसके आगमन की कल्पना से हम भीत नही होते। सामन्तशाही के युवक की तरह मरने के लिए हरदम फेंटा कसे रहने की आवश्यकता आज के युवक को नहीं दिखाई देती। स्त्रियों के लिए भी आज विष एक बेकार वस्तु है। हमारे गाँव, हमारे पथ-घाट आज घुड़सवार के भय से पीड़ित नहीं जान पड़ते। अपने घर हम खुले रख सकते हैं। पथ-घाट में भीड़ जमा कर के खड़े रहने में हमारे लिए किसी तरह की बाधा नहीं।

है क्यों नहीं, बाधा है। हमारे घर खुले रहें, इसका अवकाश ही कहाँ? घोड़े की वह ताकत हमें वहीं दूर से खींच

जो रही है । उसी दूरी से उसने हमारे हाथ का काम छीन लिया, उसने हमें बेहाथ कर डाला है । वह मामूली नहीं है, छोटा नहीं है। इतने से काम के लिए पुराने घुड़सवार की तरह गली-गली घूमने का कष्ट करे ही वह किस लिए ? हमें दौड़कर स्वयं उसके पास जाना होगा । हमें लूटने के लिए हमारे पास वह आये तो तब, जब कि हम स्वयं उसके पास न जा सकते हो । वह बहुत दूर से उसके कारखाने की घरघराहट सुनाई पड़ती है। वहाँ उसके आकर्षण से हम अपने आप खिंचकर उसके पास जा पहुँचे हैं। वहाँ उस हजार-हजार घोड़े के एक घोड़े की विद्युद्गति मे हम हजार-हजार प्राणी एक साथ जोत दिये गये हैं। हममें से कोई नारी है, कोई पुरुष । यह कोई बड़ा अन्तर नहीं। रक्त और मांस नारी और नर में एक-सा ही होता है! वहाँ हममें से कोई वृद्ध है, कोई युवा है, कोई किशोर है। वह भी कोई वास्तविक भेद नहीं। आदमी चाहिए, आदमी! और आदमीपन में ये सब एक-से हैं । हाँ, शिशु यहाँ नहीं दिखाई देते । वे अपने थान पर आगे की मंजिल में जुतने के लिए तैयार किये जा रहे है। सामन्तशाही के घोड़े में यह बुद्धि नहीं थी। आगे की बात सोचकर शिशु को वह छोड़ नहीं सकता था। ऐसे इसके पीछे दौड़ना छोड़कर हम अपना घर खोले रहें, अपने गाँव के टेढ़े-मेढ़े और गर्द-गुबार से भरे पथ-घाट में बेकार घूमते रहें, इसका अवकाश आज हम नहीं पाते।

अवकाश आज हमें दूसरे तरह का है। रात को शराब

पीकर अपनी नई बस्ती के मुहल्ले में हम आनन्द-विनोद की छुट्टी पाते हैं। एक दूसरे को गाली दे सकते हैं। एक दूसरे के साथ मारामार कर सकते है। नाच सकते है, चिल्ला सकते हैं, रोटी खा सकते है। कर क्या नहीं सकते ? यहाँ तक कि अपनी डेढ हाथ की खटिया पर आँख मूँदकर सवेरे तक के लिए सो भी सकते हैं।

हाँ, आज के इस घोड़े का रूप ऐसा ही है। इसके दवाव से तिल-तिल गलकर पीले पड़ते हुए भी, इसके चक्के के नीचे कुचलकर पिसते हुए भी हम जो इस तरह हँस-खेल लेते हैं, यह हमारा सौभाग्य है। सौभाग्य ही कहना चाहिए। आज हमे इसी तरह हँस-खेल लेने दो ! अधिक कुछ चाहते हो तो देखो उस स्पेन की ओर। और निकट-से अवलाओ का विध्वंस और आर्तनाद देखना-सुनना हो, तो वढ़ो उस चीन की ओर। कौन है वह स्थान, कौन है वह देश, जहाँ का मानव कही खुले में, कही छिपकर, आज की घोड़ेशाही से पीसा न जा रहा हो। संसार की अन्तरात्मा का दम आज भीतर ही भीतर घुँट रहा है। सारे का सारा आकाश आच्छादित है, चिमनियो के सफेद और काले धुएँ से। मनुष्य के ऊपर आज से बढ़कर संकट कभी नहीं आया।

सामन्तशाही के घोड़े की निन्दा हमने भरपूर की है। उसे वर्बर और असभ्य कहते हुए हम नहीं थके। परन्तु वे घोड़े और घुड़सवार आये और चले गये। हमारे घर, हमारे

गाँव रूँदकर एक वार में ही वे सब कुछ समाप्त कर देते थे। जिबह करने के लिए ही भेड़-बकरियों की तरह वे हमें पालते नहीं थे। आज का घोड़ा और घुड़सवार वैसा नहीं है। शरीर उसका लोहे का, प्राण उसका दानव का। कल्पना का दानव उसमें साकार हो उठा है। सदियों के घोड़े और घुड़सवार आज कहीं एकत्र हो जायँ, तब भी, क्या संख्या-बल और क्या बर्बरता, किसी बात में आज के घोड़े का मुकाबला नहीं कर सकते।

रावणों और दुःशासनों ने जो नहीं कर पाया, उसीके पूरा करने की बात आज के घोड़ेशाह ने सोची है। चक्रवर्ती होने के लिए उसने अपना घोड़ा खोल दिया है। कितने देश, कितनी सेनाएँ, कितने जनसमूह उसके खुरों के नीचे पिसे हैं और पिसेंगे, इसका हिसाब नहीं है।

संसार प्रतीक्षा में है। चाहता है, कोई कुश, कोई लव, कोई बभ्रुवाहन सामने आकर आज खड़ा हो जाय। इस बर्बर का प्रतिरोध उसीसे हो सकता है; जिसमें बालक की निर्भयता हो। इसके पशुत्व का दलन करना ही होगा। हमारा विश्वास है, अगली पीढ़ियाँ आज की घोड़ेशाही का वर्णन उसी प्रकार पढ़ेंगी, जिस तरह हम सामन्तशाही को याद करते हैं।

फाल्गुन कृष्ण १९९५

छत पर

ग्रीष्म की अँधेरी रात थी। ऊपर छत पर अकेला लेटा था। नींद का पीछा कर रहा था, पर जैसे गरमी बिताने के लिए वह किसी ऊँचे पहाड़ पर चढ़ गई हो। हवा कुन्द थी। बड़ी देर में कभी उसका एकाध झोंका मिलता भी था, पर इससे लाभ क्या? मरुस्थल की किसी लम्बी यात्रा में कोई सूखा झरना दिखाई दे जाय, तो असन्तोष ही बढ़ता है। जाड़े में पानी जम जाता है और इस गरमी में यह हवा जम गई थी!

देखा, ऊपर आकाश में तारे बिखरे हैं। दूर तक, बड़ी दूर तक, दृष्टि जा सकती है वहाँ तक, तारे ही तारे दिखाई देते हैं। पता नहीं, किसने इन्हें कब किस गोधूलि वेला में पहले पहल जगाया था। अनन्त काल बीत गया है, अनन्त काल इसी तरह बीत जायगा, पर ये इसी तरह जगमगाते रहेंगे। कभी छुट्टी लेते नहीं, कभी विश्राम करते नहीं, ठीक समय पर यथास्थान प्रकट हो जाते हैं। देखने में इतने छोटे, पर पार है कुछ इनकी विस्तीर्णता का? बुद्धि चकराने लगती है। इनकी नाप-जोख के लिए मनुष्य की भाषा में संख्या का अभाव है। अनपढ़ आदमी को साठ की गिनती के लिए 'तीन-बीस' कहना पड़ता है। इस नक्षत्र-लोक के विषय में हमारे विद्वानों की अवस्था भी ऐसी ही है। उन्हें भी अपने

कुछ नये बीसों को पकड़ना पड़ता है, तभी इनके सम्बन्ध में वे कुछ कह सकते हैं।

मनुष्य इनके सामने पानी का बबूला भी तो नहीं। वह कितना छोटा है, कितना क्षणभंगुर है, इसका पता उसने आज तक नही पाया। कदाचित् वह अपने को देखने का सामर्थ्य हो नही रखता। इन नक्षत्रो को वह इतने छोटे रूप में देखता है, तब अपने लिए उसकी दृष्टि मे शून्यता न होगी, तो और क्या आशा की जा सकती है ?

गाँव में किसी के यहाँ लड़की का विवाह था। दूर से मीठी शहनाई की आवाज आ रही थी। कुछ अच्छा नहीं लग रहा था। आकाश के खुले हुए उस महापृष्ठ ने न जानें क्या बात पढ़ा दी थी। कदाचित् यह समाचार पहुँचाया था कि सारी की सारी पृथ्वी मृत्यु-शय्या पर है; पता नही, किस क्षण वह चल दे; पता नहीं, किस क्षण उसका प्राण-पतङ्ग उड़ जाय। ऐसे में उत्सव की यह बाँसुरी किसे रुचेगी ? कौन होगा, जिसे इस अवस्था में ऐसी बातें सुखकर जान पड़ें ?

एक धडाके के साथ आकाश में प्रकाश फैल गया। बारात वालो की ओर से यह आतिशबाजी की गई थी। सरसराहट के साथ आग का एक तीर-सा ऊपर उठा। थोड़ी देर के लिए जैसे शून्य के दो टुकड़े हो गये हो। इधर-उधर के अन्धकार के बीच में यह एक ऐसी प्रकाशधारा थी, जिसकी ओर न झुक पड़ना असम्भव था। पता भी न चला और दृष्टि

को अपनी ओर खींच कर जैसे उसने आज्ञा दी—देखो, इस ओर देखो ! आज्ञा की तरह ही तीखी और खरी और आकस्मिक वह ज्योति थी । चकाचौंध में आँखें क्षणभर को झँप-सी गई । ऊपर जाकर उस तीर ने अगणित चिनगारियो की सृष्टि कर दी । बूँदें आग की भी कितनी भली जान पड़ती है ! जान पड़ा, जैसे एक नये नक्षत्र-लोक की रचना की गई हो। उन नक्षत्रो और इन नक्षत्रो में अन्तर ही क्या था ? उतने ही दूर, उतने ही चमकीले, उतने ही बड़े । सब कुछ वैसा ही, कमी किसी बात में न दिखाई दी ।

फिर अँधेरा फैल गया । जैसे कोई बात ही न हुई हो । हुई हो, तो बस इतनी कि प्रकाश को यह छोटी खुराक पाकर अन्धकार और पुष्ट हो उठा है । चिनगारियाँ एक क्षण भी टिकी न रह सकीं । उठीं और विलीन हुईं । थोड़ी-सी आनन्द-क्रीड़ा का अवकाश भी उन्हें नहीं मिला । उनका हिलना-डुलना मृत्यु के पंजे में फँसे हुओं की छटपटाहट ही तो न थी ?

क्या यह जीवन इतना ही क्षणभंगुर है ? मृत्यु की छाया में इसका महत्व इतने से अधिक कहा कैसे जाय ? आया, और आने के साथ ही क्या इसी तरह इसे विदा करना होता है ?

विवाह के अवसर पर जीवन की क्षणिकता का यह बोध बेमेल जान पड़ता है । ऐसे उत्सव मे आतिशबाजी मूर्खता से भरी हुई नही, तो और क्या समझी जाय ? यह क्रीड़ा ठीक

वही स्थान हाथ से मसल देती है, जहाँ पर जीवन की सबसे बड़ी पीड़ा रहती है । यहाँ उत्सव का ताल बेसुरा प्रतीत होता है । जान पड़ता है, मनुष्य नश्वर ही नहीं, अज्ञानी भी बहुत बडा है । अपने छोटे क्षण को भी मधुर बनाना वह नहीं जानता ।

सिर के ऊपर ही आतिशबाजो में जीवन और मृत्यु की लड़ाई का यह दुष्परिणाम और नीचे शहनाई बज रही थी । दीपको के प्रकाश मे वहाँ चहल-पहल हास-विनोद, खान-पान और, और भी न जाने क्या क्या हो रहा होगा । इसी समय किसी मंगलाचार के लिए नारियाँ मिलित कण्ठ में कोई मधुर गीत गाने लगीं ।

समझ में नहीं आता, वे गा क्या रही हैं । वे गा रही है, इतना ही जान पड़ता है । उनके शब्द यहाँ इस छत तक नहीं पहुँचते । इस एकान्त तक आकर किसी अर्थ को भीड़ हलचल पैदा नही करती । आता है केवल स्वर, आता है केवल सङ्गीत । निचुड़कर छिलका और फोक जैसे वहीं रह गया हो । छने हुए रस की ही उपलब्धि यहाँ होती है ।

फिर एक धड़ाका हुआ और आग का वैसा ही तीर सरसराता हुआ ऊपर जाकर बिखर गया । पहले की तरह कितनी ही चिनगारियाँ नक्षत्रों की होड़ करने लगीं । थोड़ी देर बाद फिर वही बात । क्षण क्षण के अन्तर पर पूर्व की पुनरावृत्ति बार बार होने लगी ।

यह ठंढी ठंढी हवा का झोंका आया। इसकी तरलता में नारियो के कण्ठ की मीठी महक बसी हुई है। भूखे को यह जैसे सुस्वादु भोजन मिला। अब यह आतिशबाजी भी पहले की खीझ पैदा नहीं करती। हानि क्या, जो इसकी चिनगारियाँ देर तक टिकने नहीं पाती हैं। जब तक दिखाई पड़ती हैं, प्रकाश से, जीवन से दमकती ही रहती हैं। अन्धकार का, निर्वापित होने का भय जैसे इन्हें छूने तक नहीं पाता। जान नहीं पड़ता कि अन्धकार इनका शत्रु है। स्वजन की भाँति ही उसकी गोद में खेलने लगती है, हिचक इन्हें किसी तरह को नही होती। अन्धकार के सारे शरीर मे, कभी मस्तक पर, कभी कपोलों पर, कभी छाती पर, जहाँ तहाँ अपने अजस्र चुम्बन इन्होंने बिखेर दिये है?

जान पड़ता है, किसीने नक्षत्रो की यह फुलझड़ी ही किसी समय आकाश में छोड़ी थी। उसका एक क्षण अभी पूरा नहीं हुआ। जब हो जायगा, तब ये भी बुझ जायँगे। अनन्त काल के लिए इनकी भी सत्ता नहीं है। हम अपने क्षुद्र कालकण से उस महामहिम को नापने बैठते हैं, इसीसे हमें इनकी चिरन्तनता का धोखा हो जाता है।

नक्षत्र चिरन्तन हैं, तो हम भी वैसे क्यों नहीं? मनुष्य का यह आनन्द-उत्सव कुछ आज का ही नहीं है। इसे भी युग के युग, युगान्तर के युगान्तर हो चुके हैं। कितने उत्पात में, कितने उलट-पुलट में, कितने ध्वंस के चितानल में घूमता-फिरता यह आज तक जीवित है। इसके जीवन की फुलझड़ी निरन्तर

इस अनन्त को आभूषित कर रही है।

वह बधू, जो अपनी सखियों के बीच में हलदी और रोरी से चर्चित होकर वहाँ मन-ही-मन मुसकरा रही होगी; वह वर, जो नये यौवन की आभा में उज्वल अनुराग लेकर सखाओं के साथ वहाँ हँस-खेल रहा होगा; वे स्वजन-परिजन, जो सब चिन्ताओं से मुक्त होकर वहाँ उस उत्सव के आनन्द का उपभोग कर रहे होंगे; सबके सब न तो कभी नश्वर थे, और न कभी होंगे ही। आग की इन फुलझड़ियों की तरह ही चिरकाल के अन्धकार को इन्होंने जगह जगह से छेद रक्खा है। ये सब दस-बीस-पचास बरस ही जीवित रहने वाले नहीं हैं। अनादि न हों, चिरकालित तो ये है ही। हममें से कौन बता सकता है कि यह एक से दो होने के उत्सव की बाँसुरी मनुष्य ने पहले पहल कब फूँकी थी? जब भी फूँकी गई हो, तब से इसका स्वर कभी चुका नही। कभी निर्जन अरण्य मे, कभी नदी तीर पर, कभी समुद्र की लहरों से पखारे हुए नारियल के छायाकुंज मे, कभी तारों से जगमगाते हुए ऐसे ही अँधेरे मे, और कभी फागुन की हँसती हुई शुभ्र और स्वच्छन्द पूर्णिमा में; यहाँ, वहाँ, और सब जगह, सब देशों में और सब कालो में; आनन्द की यह अटूट रागिनी एक ही अटूट धारा में निरन्तर एकरस बही चली आ रही है। वे वर-बधू, वे स्वजन-परिजन, वे अड़ोसी-पड़ोसी कुछ आज के इसी क्षण के ही नहीं; उनमें चिरकाल का आनन्द बसा हुआ है। चिरकाल के आनन्द से,

चिरकाल के प्रेम से, उनके ललाट अभिषिक्त हैं।

और यह जो मैं इस छत पर इन नक्षत्रों को देखता हुआ यहाँ अकेले मे लेटा हुआ हूँ, क्या अकेले आज का ही हूँ? जान पडता है, मैं भी उन्हीं सबके बीच का हूँ। मेरी भी छोटी फूँक ने उस चिरन्तन बाँसुरी को स्वरदान किया है। कभी वर-बधू के वेश में, कभी स्वजन-परिजनो के वेश में। कभी इस युग में, कभी उस युग में, कभी इस देश मे, कभी उस देश मे। विभिन्न वेशों में, विभिन्न भाषाओ में, भिन्न-भिन्न राग-रागनियों की सृष्टि करते हुए, कभी तो सावन की दूर तक फैली हरियाली के बीच और कभो सूर्य की किरणों से जलते हुए खुले रेगिस्थान मे, मैंने भी इस जीवन को अखण्ड गतिदान किया है; मैने भी इस धारा में कितनी ही छोटी-बड़ी लहरियाँ उठाई हैं। ऊपर ये नक्षत्र इसी तरह झिलमिलाते रहे हैं, इसी तरह हमें एकटक देखते रहे हैं। ये हमारी अक्षयता के चिर-साक्षी हैं!

नारियों का वह मिलित संगीत उसी तरह इन कानों तक पहुँच रहा है, शहनाई उसी तरह बजी जा रही है और वह आतिशबाजी भी समाप्त नहीं हुई। उसकी पिचकारी से प्रकाश के गुलाबजल की यह होली अन्धकार के ऊपर होती ही जा रही है। सूख जाने का, बुझ जाने का, मृत्यु के सागर में डूब जाने का भय उसे नहीं। जीवन को भय किस बात का? मृत्यु का वह प्रदीपित अंश है। विवाह के उत्सव में आग की फुलझड़ी की यह क्रीड़ा करके मनुष्य ने अपनी निर्भयता का ही

प्रचार किया है। उसने कहा है—भले ही जीवन क्षणिक हो, भले ही इन नक्षत्रों के सामने वह क्षुद्र से क्षुद्र हो, उसकी शहनाई का स्वर धीमा नहीं पड़ सकता। मिट जाने के भय पर उसने विजय पा ली है। जीवन के छोटे छोटे बिन्दुओं से ही उसने ऐसे महासागर की सृष्टि कर रक्खी है, जिसका अस्तित्व प्रलय में भी समाप्त नहीं होगा; जो अथाह है, दुर्लंघ्य है, सुविस्तीर्ण है।

चिरजीवी हों वे हमारे वर-बधू!

फाल्गुन शुक्ल १९९५

घूँघट में

आठ-दस महिलाएँ कहीं जा रही थीं। दृष्टि उनकी ओर एकाएक दौड़ गई।

रंग-बिरंगे उनके वस्त्र थे। लाल, पीले, नीले, हरे, सफेद। उनके घेरदार घाँघरो में किसीके घाँघरे सादे थे, किसी पर बेल-बूटे कढ़े हुए। बेल-बूटे भी कोई छोटे, कोई बड़े; कोई इस आकार के, कोई उस आकार के। जरी होने के कारण किसी किसीके बेल-बूटे सीधी धूप मे आकर एक साथ झलमल झलमल करके चमक उठे। उनके भीतर का सोना जैसे तरल होकर छलकता हुआ धूप में मिल गया हो।

और उन लहराते हुए घाँघरो के ऊपर ओढ़ने की चादरें थीं। सबकी सब चित्र-विचित्र। रेशम की, मलमल की, तंजेब की, चिकन की। किसीमे गोट जड़ी हुई और कोई विना गोट की। अपने हलकेपन के कारण उनके अंचल हवा में अनायास तैर रहे थे। सिकुड़कर कभी शरीर से लिपटते थे और कभी जान पडता था, जैसे दूर जाने का प्रयत्न करते हों।

और उन महिलाओं के पैरों में चाँदी के कड़े-छड़े थे; छम-छम-छनाक करके गूँगी गति में भाषा की भङ्गिमा भरते हुए।

और उनकी कलाइयो मे काँच की चूड़ियाँ थीं, चाँदी के चमकते हुए चूड़े थे। एकाध के हाथ में सोने के बाजूबन्द भी, जिन पर सोने के ही छोटे-छोटे रवे। जान पड़ता था, अपनी बहु-मूल्यता प्रकट करने के लिए सोने के वे शब्द ऊपर उछल पड़े हों!

और जब तक देखें देखें, वे महिलाएँ आगे बढ़कर दायीं ओर की गली में ओझल हो गई। बस इतना ही उनका परिचय मिल सका और कुछ नहीं। वे सबकी सब तरह तरह के घूँघटों में अपने मुख छिपाये थीं।

और अब जब वे चली गई हैं, तब यह नही जान पड़ता कि उनमें से किसीको देखा था। देखे थे,—लहराते हुए घाँघरे, हिलते-डुलते हुए रंगीन अंचल; लाल, पीले, नीले, हरे, सफेद रंग; छमकती हुई कितनी ही चूड़ियाँ; पीठ की ओर ओढ़नी के भीतर जूड़ों का अस्पष्ट आकार; कण्ठ में किसी आभूषण का झलकता हुआ एक कोना; आधी भुज-लताओ तक चोली की

आस्तीन की गोटें, जो कि ओढ़नी के झीनेपन में ऊपर को ओर उभर-उभर पड़ी थीं। बस इतना ही सब तो। अधिक और देखा ही क्या जा सका? क्या इतने में ही उनका नारीत्व समाप्त हो गया था? इससे अधिक उनके पास क्या और कुछ नहीं था? क्या उनके आँखें न थीं, जो रास्ते में स्नेह की, प्यार की, सरलता की, पवित्रता की धारा बहाती चलतीं? क्या उनके अधरो पर भाषा न थी, जो परिचितो और अपरिचितों को, सबको, आनन्द से, उत्साह से, कल्याण से एक साथ अभिषिक्त कर देतीं?

पर अब तो वे चली गई हैं। परोक्ष में उनके घूँघट की निन्दा ठीक नहीं जान पड़ती। और सच तो यह है, उन्हें देखकर हमें अपने घूँघट की याद आ गई है। है कोई, जिसने हमें हमारे असली रूप में देखा हो? किसीने हमारे कपड़ों को देखा है, किसीने हमारी बैठक को देखा है और किसीने हमारे बोलने को देखा है। हमको किसीने देखा है, यह नहीं जान पड़ता। कितने कौशल में, कितने आडम्बर में, कितनी बनावट मे, हमने अपने को छिपा रक्खा है, यह हम तक नहीं जानते। उन महिलाओ की तरह ही हम सबके सामने से निकल जाते हैं और देखने वाले समझते हैं, हमने देख लिया, हमने पूरा का पूरा परिचय पा लिया!

फाल्गुन शुक्ल १९९५

कवि-चर्चा

उस दिन चर्चा छिड़ गई कि हमारे गाँव में कवि कितने हैं। गिनती का काम आसान न था। मण्डली में कोई ऐसा न था जो दावा करता कि उसका परिचय सबके साथ है। एक मित्र को कहना पड़ा, सबके सब चोर-डाकुओ को पुलिस भी नही जानती। जेलखाने में आकर जो उजागर हो गये हैं, उन्हींको गिनकर ठीक ठीक नतीजा नहीं निकाला जा सकता। जैसी बात इनके विषय में, वैसी ही कवियों के विषय में!

फिर भी, मित्र लोग एक परिणाम पर पहुँच गये। आबादी का प्रति सैकड़ा एक-बटा-दो कवि था। स्त्रियों के अन्तःपुर तक हमारी पहुँच न थी, इसलिए उन्हें छोड़ देना पड़ा।

इतने अधिक कवियो की उपस्थिति से, वहाँ किसीको प्रसन्नता न हुई। जान पड़ा, जैसे उन्हें बहुत पीछे खिसकाकर राजा भोज के जमाने में पहुँचा दिया गया हो। सामयिक पत्रो को देखकर भी उन्हें ऐसा ही अनुभव हुआ था। नये नये कवि, नये नये छन्द, नये नये विषय। कहाँ तक वे देखें, कहाँ तक वे पढ़ें। उनका मतलब यह न था कि इन कवियो में पढ़ने योग्य कुछ नहीं मिलता। कविताएँ हैं, तो पढ़ने योग्य क्यों न होंगी? और इन्हें पढ़ना भी चाहिए। न पढ़ने से कवि अपमानित होता है। पर कठिनाई उनकी यह थी कि जिसे देखो वही कवि बनकर सामने आना चाहता है। सभी कवि हो जायँगे, तो

कविता लिखी किसके लिए जायगी ? सभीके सभी परोसने वाले बन बैठेंगे, तो आहार करने वाला कहाँ से आयगा ? इतनी अधिकता देखकर हमारे वे मित्र घबराने लगते हैं।

किसीको कितनी ही घबराहट हो, कविताएँ लिखी ही जाती रहेंगी। वे बन्द न होगीं। आकाश में जब बादल घुमड़ते हैं, तब अपने आप ही घुमड़ते हैं। यह देखना उनका काम नहीं कि नीचे के खेत मे कोई बीज उनके स्वागत की तैयारी कर रहा है, अथवा नहीं। अवसर आया और खेत का बीज अपने आप अंकुरित हो उठता है। अंकुरित वह हो क्यों नहीं ? यह सोचकर रुके रहना उसके वश के बाहर है कि कोई उसे देखने आता है अथवा नहीं आता है। इसी तरह अन्न का पौधा जब नई नई बालो से भर जाता है, तब वह भी मीमांसा करने नहीं बैठता कि आजकल लोगो के हाजमे का क्या हाल है। बाजार को तेजी-मन्दी के तार मँगाने की बात उसके जी में नहीं उठती। उसे तो भर जाना है, नई नई बालो से ऊपर तक भर जाना है। यह सब अपने आप होता है। पुरवाई हवा बहती है, बादल घुमड़ते हैं, आकाश मे इन्द्रधनुष आभूषित होता है, रिमझिम-रिमझिम बूँदें पड़ती हैं, और तब अपने आप ही कण्ठ का स्वर भी फूट उठता है। इस स्वर मे शीतलता हो सकती है पुरवाई हवा की, सघनता हो सकती है बादल की, शोभा हो सकती है इन्द्रधनुष की और नृत्यभङ्गी हो सकती है उन बूँदों की। सब कुछ उसका बाहर से लिया हो सकता है।

उसका अपना कुछ न हो, यह असम्भव नहीं। तब भी कण्ठ फूट न पड़े तो क्या करे? प्रकृति के साथ उसका ऐसा ही निजता का सम्बन्ध है। यह टूट नहीं सकता। नर और नारी के आकर्षण की भाँति यह अपने आप प्रकट हो पड़ता है।

और सच तो यह है, जितने मनुष्य हैं, उतने ही कवि। बच्चे में मनुष्य की तरह कवि भी निहित रहता है। देखते हैं, बच्चा रोता हुआ पैदा होता है। आगे चलकर उसका रोना शब्दों में बदलता है। और कुछ आगे चलकर शब्द भाषा का रूप धरते हैं। और इसक भी आगे बढ़ने की बात जब आती है, तब भाषा में कवित्व फूटता है। फलतः एक सिरे पर जो रोना है, दूसरे सिरे पर वही कविता; एक जगह जो बच्चा है, दूसरी जगह वही कवि।

मानना पड़ेगा, जितने बोलने वाले हैं, सबके सब वक्ता नहीं होते। वक्ता होने का मौलिक गुण ही उनमें रहता है। इसी नियम के अनुसार सबके जीवन मे कवि का रूप प्रकट नहीं होने पाता। प्रकट हो सकता है, इतनी बात है। कागज लिखने के लिए बनता है, यह कौन नहीं मानेगा? फिर भी कुछ कागज जहाँ के तहाँ पड़े रह जाते हैं; कुछ रद्दी मे चले जाते हैं; कुछ ऐसे भी, जिनका उपयोग दवा को पुड़ियो में हो जाता है। पर इसके लिए हमे अपनी सराहना करनी चाहिए कि हम कोरे कागज ही बनकर इस दुनिया में नहीं आते। हम कुछ अधिक हैं, अर्थात् मनुष्य हैं।

मनुष्य होने के कारण ही जीवन को हम अपार में, अनन्त में, फैला हुआ देखा चाहते हैं। हमारी ऊँचाई साढ़े तीन हाथ की, हमारा शरीर मांसल, हमारे हाथ-पैर मजबूत,—इन्हीं सब बातो को लेकर हम चुप नहीं रह सकते। समस्त की, सम्पूर्ण को, निश्शेष की अनुभूति अपने मे किये विना हमारी तृप्ति नही होती। जब तक हम अपने को सब ओर फैला न देंगे, तब तक हमारा मनुष्यत्व अधूरा रहेगा। इस अधूरेपन से निकलकर पूरे होने की चाहना में ही कवित्व का उदय है। हममें से कौन है, जिसके भीतर इसकी अखण्ड धारा प्रवाहित न हो? पृथ्वी में एक बित्ता जमीन ऐसी नहीं, जिसके भीतर अथाह समुद्र नहीं पाया जाता। इसो तरह संसार में एक भी मनुष्य ऐसा नहीं, जिसके भीतर कवित्व का यह अगाध रस लहराता नहीं मिलता। जितने काव्य, जितनी कविताएँ, अब तक लिखी गई हैं, वे सब उसके सामने नगण्य हैं। ऐसी हैं, जैसे किसी अगाध मे से कोई छोटा सोता फूट निकला हो।

पर शरीर से मनुष्य ससीम है। वह उसीको लिये बैठा रहे और शेष जो कुछ है, उससे निज को विच्छिन्न कर ले, तो हीन पड़ता है। यह उसे सुहा कैसे सकता है? अनजान में ही सही उसे अपनी कुलीनता का बोध है। उसे आभास है कि निखिल के साथ उसका सीधा सम्बन्ध है। इसीसे वह अपने को विराट में उपलब्ध करना चाहता है। इसके विना जैसे वह अकेले मे कहीं निर्वासित हो, निष्कासित हो। इसीसे जब वह

दूर तक फैली हुई स्वच्छ चाँदनी को देखता है, तब क्या उछल नहीं पड़ता ? तब क्या उसे यह बोध नहीं होता कि इसी तरह अमल-धवल होकर वह यहाँ, वहाँ और सब जगह बिछ नहीं गया है ? तब क्या उसके भीतर के प्रकाश से सराबोर होकर मुहँ से 'वाह ! वाह !' एक दम निकल नहीं पड़ता ? यह उल्लास किसी छन्द में बँधा हो या न बँधा हो, यह एक उच्च-कोटि की कविता है। चिरकाल के अनन्त ओठों से घिसकर भी यह पुरानी नहीं पडी। इसीकी सहायता से मनुष्य पहुँच जाता है नक्षत्रलोक मे, मिल जाता है मेघमण्डली में, लहरा उठता है अथाह सागर में। कितनी ही दूरी हो, कितनी ही कठिनाई हो, उसे बाधक नहीं होती। वह अनुभव करता है कि सबके साथ वह एकरूप है। इसीसे चाहता यह है कि वह वृक्षो मे जाकर पल्लवित हो जाय, लताओं मे मिलकर खिल उठे, नदी के बहाव मे और घुमाव में दुर्गम और दुरूह की यात्रा कर ले। शरीर उसका ससीम है तो क्या हुआ ? हृदय और मन के पंख लगाकर वह कहीं भी उड़ जाता है। कहीं भी ज्ञात और अज्ञात के घर पहुँचकर अपनी आत्मीयता प्रकट करते हुए उसे हिचक नहीं होती।

पर जितना भी यह आनन्द है, सब बाहरी है। अपना भी मनुष्य का कुछ होना चाहिए। निजी उसका कुछ न हो, तो उसका गौरव गिर जाता है। इसीसे उसके पास अपनी भी व्यक्तिगत कुछ पूँजी है; और यह है उसकी वेदना। वह आनन्द

प्रकाश है, तो यह वेदना छाया। एक वह दिन है, तो दूसरी यह रात। अर्थात् एक के द्वारा हम दूसरे को पाते हैं। नहीं तो वह पाना पाना नहीं रह जाता। वेदना के घाट पर आकर ही आनन्द की धारा तीर्थ-रूप होती है।

इसीसे जब हम किसीकी आँख में आँसू देखते हैं, तो उसका खारीपन हमारे भीतर के किसी घाव मे लगकर चुभता है। इसीसे जब हम किसीका क्रन्दन सुनते हैं, तो हमे यह नहीं लगता कि यह किसी दूसरे का है। जान पड़ता है, हमारा अपना ही कुछ जैसे यह दूसरे के कण्ठ से निकल पड़ा हो। 'हम' और 'उस' की दीवार उस समय परदे को तरह खिसक जाती है, और 'हम' ही 'हम' रह जाते हैं। आनन्द की उपलब्धि से वेदना की यह उपलब्धि श्रेष्ठ है।

बात यह है कि चाँदनी की निर्मलधारा में जब हम नहाते है, तब हम आत्मीय के नाते उसकी शीतलता निस्संकोच ले लेते है। लेकर भी उसे देने के लिए हमारे पास कुछ नहीं होता। हम कुछ दक्षिण पवन नहीं, जो उसके, उस चाँदनी के, कोमल विस्तार पर सुगन्धि का लेपन कर सकें। हम न हों, तब भी वह मलिन न पड़ जायगी। पर किसीके आँसू या रुदन के विषय में ऐसा नहीं।

हम न हों, तो किसीके आँसुओं का मूल्य क्या? जहाँ वे अपने मे बरस रहे हैं, वहाँ तो पहले ही सागर या नद हिलोरे ले रहा है। हमारी मिट्टी मे आकर ही किसीके आँसू

सफल है। हमारे क्षेत्र में आकर ही वे संसार की हरियाली बढ़ाते हैं, फूल और सुगन्धि बनकर हँसते और फैलते है। दूसरे का रुदन भी हमारे विना अपना भार अपने आप नहीं झेल सकता। वह निरर्थक हो जाता है। जब वह हमारे भीतर के तन्त्र को स्पर्श करता है, तभी उसमे से अपनो रागिनी निखरती है। इसीसे वेदना को आनन्द से श्रेष्ठ कहा है। वह दो को एक करती है। उसके कारण हमारो छोटी सीमा टूटती है और हम विराट् की ओर बढ़ते है और विराट् हमारी ओर आता है।

आनन्द और वेदना का यह महाकाव्य आदि से लेकर आज तक प्रत्येक मानव के भोतर रचित और संचित हो रहा है। सभीके सभो इसके कवि और सभोके सभी इसके रसिक और सभीके सभी इसके भोक्ता हैं। यह ठीक है कि कुछ छोटे होते हैं। उन्हें हम 'खद्योत सम' कहते हैं। यह इसलिए कि उनकी अभिव्यक्ति अपने आपके घेरे से आगे नहीं बढ़ती, उतनी के लिए भी उन्हें अँधेरा आवश्यक होता है। और कुछ बड़े होते हैं, ऐसे होते हैं कि उन्हें हम सूर और शशि कहकर अभिनन्दित करते हैं। कुछ हो, जाति दोनो की विभिन्न नहीं। क्षण भी काल है और युग भी काल है।

जिनकी सीमा छोटी है, उन्हें निराश नही होना चाहिए। छोटा ही बड़े होने का आधार है। बड़े से बड़े की प्रीति, विस्तार और अभिव्यक्ति आरम्भ में छोटी ही थी। एक युवक

याद आ रहा है। उसके अनुराग की मूर्ति अपने पिता के घर है। भादो का महीना है, रात अँधेरी। मूसलाधार पानी बरस रहा है। पथ का, नाले का, नदी का और नद का भेद पकड़ में नही आता। सब एकाकार हो गये हैं। युवक रुकता नही, चल देता है। किस तरह वह ससुराल के पिछवाड़े पहुँचता है, यह आश्चर्य की बात है। और इससे भी आश्चर्य की बात तो यह कि दीवार पर यह रस्सी लटकती है, और वह भी रेशम-सी मुलायम और मजबूत। हो सकता है यह साँप हो, पर युवक तो अजगर जैसे पथ के पेट से निकलकर यहाँ पहुँचा है। वह भय से अतीत है। रस्सी में उसने साँप नहीं देखा, वरन् साँप ही उसके लिए रस्सी बन गई है। छत पर एकान्त में वह अपनी अनुरागवती के पास पहुँचता है। वह चकित होती है, स्तम्भित रह जाती है। कहती है—"मुझ जैसो,—मुझ जैसी न-कुछ के प्रति तुम्हारा यह प्रेम! जिन्होंने भगवान को पा लिया है, वे भी इतनी कड़ी साधना न करते होंगे।" सचमुच युवक का प्रेम क्षुद्र के प्रति था, एक के प्रति था। पर उसी एक ने इस स्थान पर एक ऐसा मणिदीप एक ऐसी जीभ की देहरी के द्वार पर रख दिया, जिसने युग के युग मे भीतर और बाहर एक-सा उजाला फैला दिया है। एक क्षण मे युवक का 'मानस' किसी एक का न रह कर सबके लिए खुल पड़ा। अभी तक छोटा जो था, वह बड़ा हो गया; और उथला जो था, वह अगाध हो गया; और व्यक्ति जो था, वह समाज और राष्ट्र

हो गया। हम छोटों को निराश होने का कारण नहीं। हम सब उसी युवक के अनुयायी हैं। अभी इस घने अँधियारे में जा रहे हैं, इसलिए हमें कोई देख नहीं पाता। यहाँ तक कि हम स्वयं भी अपने को नहीं देख पाते। तब भी हमें रुकने की आवश्यकता नहीं है। चले चलो, बढ़ जाओ! क्या ठीक, आगे कोई हमारे लिए भी वैसा ही मणिदीप हाथ में लिये हो। हम निराश नहीं होंगे, हम आशा का साथ नहीं छोड़ेंगे। आशा जीवन है और निराशा मृत्यु। इस आशावादिता में, वे मित्र भी हमारे सहयोगी हुए बिना न रहेंगे, जो इस छोटे गाँव में हम छोटे-मोटे कवियों की इतनी संख्या देखकर खीज उठे हैं।

और मैं यह मानने को तैयार नहीं कि वे मेरे मित्र स्वयं ही कवि नहीं हैं। मानूँगा, मैंने उनकी कोई छन्दोबद्ध-रचना नहीं देखी। फिर भी उनकी कविता का उपभोग नहीं किया, यह किस तरह मान लूँ? मैंने उनका प्यार पाया है, स्नेह पाया है, उनकी झिड़की खाई है, उनका क्रोध पाया है। जो कुछ पाया है, सबका सब हृदय-रस में डूबा हुआ। हृदयरस ही कविता है। जितनी कविताएँ हों, वे सबकी सब छन्द में गूँथकर कागज पर रख दी जायँ, यह आवश्यक नहीं। सारा का सारा जल घाट के जलाशय में ही बँध जाय और गंगा और जमना की धारा में ही बहता रहे, यह नहीं हो सकता। थल की सतह पर भी उसका अस्तित्व है। वहाँ वह लहरों में उछलता नहीं मिलता; तट पर क्रीड़ा करता नहीं पाया जाता; प्रवाह के कल-कल में

और गभीर घरघराहट में घूमता, फिरता, दौड़ता और थमककर चलता हुआ नहीं दिखाई देता। वहाँ उसका दूसरा रूप है। वहाँ वह छोटी छोटी दूब में दूर तक बिछा है, वहाँ वह वृक्षों की हरी-हरी पत्तियो में और साखो में खेलता है, वहाँ वह लताओ के अंचल में रंग-बिरंगा होकर झूमता है। वहाँ वह उद्यान है, वहाँ वह सघन वन है।

पुराने समय के कुछ ही कवियो को हम जानते है इससे यह नतीजा नही निकलता, कि इतने ही कवि उस समय रहे होगे। इतिहास मे थोड़े ही व्यक्तियो का उल्लेख मिलता है, पर उस काल में उनको छोड़कर और कोई न होगा, यह हम नही मानते। आजकल की भाँति ही सब कालो में कवि असंख्य रहे है और रहेगे।

पृथ्वी पर कहीं समुद्र है, कहीं खाड़ी है, कहीं गंगा-जमुना है, कहीं झरना है और कहीं सरोवर है। नये नये घाट और नये नये तीर्थ। जहाँ ये नहीं हैं, क्या वहाँ लोग प्यासो मरेंगे? वहाँ हम कुएँ के छोटे-से घाट पर ही तृप्त होते हैं। कुएँ का जल ही वहाँ हमें तरी पहुँचाता है। कुआँ छोटा हो, तब भी वह हमारे लिए है। वह हमारे लिए आश्वासन है कि कहीं भी उसे पाकर हम जीवित रह सकते है। हम छोटे-मोटे कवि इन्हीं कुओ जैसे है, जो आवश्यकतानुसार जहाँ तहाँ प्रकट होते है। हम अपने प्रति अकृतज्ञ क्यो हो? क्यो हम अपने को निस्सार समझें? बड़े बड़े तीर्थ कुछ लोगो के लिए, कुछ भाग्यवानो के

लिए, क्यों कि वे सब जगह नहीं जा सकते। हम छोटे हैं, इसलिए हमें यह रुकावट नहीं। हमारी पहुंच घर घर है। कहीं भी पहुँचने में हमें प्रयास नही पड़ता। और कुआँ कहकर यदि हम अपने को कुछ अधिक कहते हो, तो मिट्टी की गगरी होकर भी हम हीन नहीं होंगे। उसका जल और भी शीतल और स्वादिष्ट और सुलभ होगा। वह मांगलिक है।

चैत्र कृष्ण १९९५

निज कवित्त

हाँ, मुझे अपनी रचना अच्छी लगती है। बहुत अच्छी। मैं उसे प्यार करता हूँ, प्रेम करता हूँ। आप इसे मेरा दम्भ समझें, तो समझ सकते हैं। आपको अधिकार है। मुझे भी अधिकार है कि मैं आपके समझने को कुछ न समझूँ।

जब प्यार करता हूँ, उस समय मेरी रचना में और मुझमें अवस्था की छुटाई-बड़ाई रहती है। उँगली पकड़कर वात्सल्य के साथ उस समय उसको मुझे अपने साथ रखना पड़ता है। और जब प्रेम करता हूँ, तब वह और मैं सहवयस्क होते हैं। कोई किसीसे छोटा नहीं, कोई किसीसे बड़ा नहीं। वह मुझमें प्रतिफलित होती है और मैं उसमे। उसे देखकर मुझे देखा जा सकता है और मुझे देखकर उसे देखा जा सकता है। न वह

मुझसे अलग और न मैं उससे ।

लेखक और उसकी रचना का सम्बन्ध ऐसा ही होना चाहिए । यह स्वाभाविक है । वे आत्मीय होते हैं । उनका सम्बन्ध कौटुम्बिकता का होता है । इसीसे एक दूसरे की त्रुटियाँ और अभाव जानते हुए भी उनके प्रेम में अन्तर नहीं आता । समालोचक और समालोच्य में यह निकटता नहीं होती । समालोचक पड़ोसी हो सकता है, और उसमें सज्जनता और उदारता भी भरपूर मात्रा मे पाई जा सकती है । पर एकगोत्रता, एकरक्तता और पारिवारिकता उसमें कहाँ मिलेगी ? यह बात रचना के लिए लेखक में ही मिलती है ।

कहने में जैसे अब भी कमी रह गई हो । लेखक और उसकी रचना इससे आगे की सतह पर हैं । वे हैं एक ही व्यक्ति की दो आँखें । कहने को उन्हें दो कह लीजिए, पर उन-सी एकता मिलनी कठिन है ।

इसीसे जब मैं अपनी रचना को प्यार करता हूँ, तब बुरा नहीं करता । बहुत-से यह बात कह नहीं सकते, बहुत-से यह बात सुन नहीं सकते । पुरानी प्रकृति के लोग किसीको पत्नी के साथ और पुत्र के साथ खुले में हँसते-बोलते देखकर रोष प्रकट करते है । यही यहाँ होगा । इस विषय में आधुनिक भी मेरे लिए पुरानो के दल में जा मिलेंगे । फिर भी असम्भव है कि मै अपनी रचना को न चाहूँ । उसका मतलब यह होगा कि मैं अपने आपको नहीं चाहता ।

कौन नहीं चाहता अपनी रचना को ? कालिदास उसीके लिए अपने 'उडुप' को, अपनी छोटी डोंगी को, दुस्तर सागर में छोड़ देते हैं और भवभूति उसीके प्रेम के कारण काल के 'निरवधि' होने से ऊब नहीं जाते। इससे बढ़कर उनके प्रेम की घोषणा और क्या होती ? तुलसीदास ने उसी बात को "स्वान्तः सुखाय" कहा है। इसमे क्रूर, कुटिल और कुविचारी जनों को भी दखल देने का अधिकार नहीं रहता। वे स्पष्ट कहते है—'निज कवित्त केहि लाग न नीका' ? और सबसे अलग वे हो नहीं सकते। वे महात्मा हैं और महाकवि हैं, इसलिए उनकी सार्वजनिकता और बढ़ जाती है।

अपनी कोई पुरानी कृति पढ़ रहा था। पढ़कर एक नया अनुभव हुआ। जान पड़ा, उसमें मैं सुरक्षित हूँ। मिश्र देश की एक ममी अजायबघर में एक बार देखी थी। वह एक पुराना शव था। किसी विशेष विधि से रखे जाने के कारण, शताब्दियाँ बीत जाने पर भी अब तक नष्ट नहीं हुआ था। देखकर आश्चर्य मे डूबता रहा। पर आज अपनी उस कृति को देखकर मैं आनन्द से उछल पड़ा। उसमें मुझे अपने अतीत की उपलब्धि हो गई। जानता था कि अतीत को सदा से या तो समाधि के पत्थर के नीचे सड़ना पड़ता है, या फिर वह चिता की राख बनकर उड़ जाता है। अपने अतीत के लिए अधिक से अधिक इतना सोच सकता था कि उसे या तो सरयू की पुनीत धारा में प्रवाहित कर चुका हूँ, अथवा उसने कभी का किसी तीर्थराज मे

गंगालाभ कर लिया है। पर ऐसा नहीं था। मेरा अतीत मेरी उस कृति में जीवित था। उसके मुख पर मुसकराहट थी, ताजगी थी। वह मृत न था, उसका श्वास-संचार मुझे स्पष्ट सुनाई और दिखाई दे गया। उसमे ममी की विभीषिका न थी। किसी ऐसे मित्र को, जिसके चल बसने का समाचार असंदिग्ध रूप मे मिला हो, अचानक सामने देखकर आनन्द होता है। पर यह तो ऐसे ही अपने आपके साथ मिलना था! उस समय अतीत पीछे से लौटकर किसी तिगैलिया पर वर्तमान के साथ घुल-मिलकर एक हुआ दिखाई दे गया।

सब अपने आपको चाहते हैं, इसीलिए संसार में जीवन है। ऐसा न होता तो जलाशय सूख जाते, नीचे के स्रोत से जल लेकर वे निरन्तर लहराते न रहते। वनस्पतियाँ मुरझा जातीं, मिट्टी की खाद से उन्हे अरुचि हो उठती। पशु पक्षी न तो चरते और न चुगते ही, घूमना-फिरना उन्हें अभिशाप जैसा जान पड़ता। यही हाल मनुष्य का होता। अपने आपको वह चाहता न होता, तो उसे जीने की आवश्यकता न थी। चाहने के अमृत को लेकर ही मृत्यलोक अमरलोक है।

जब मै अपनी रचना को चाहता हूँ, तो अपने आपको चाहता हूँ। रचना में सुख मिलता है। इसके लिए किसी पर छापा नहीं मारना पड़ता, किसीको लूटना नही पड़ता, किसीको उजाड़ना नही पड़ता। अपनी निज की निधि इधर-उधर बरबाद न होने देकर एक जगह जमाकर देता हूँ। बस इतना ही करता हूँ।

इस इतने से यदि मेरे पास कुछ हो जाता है, तो परिश्रम भी अपना है, धन भी अपना है । उसे देखकर किसी दूसरे की नींद उचट जायगी, यह सोचने का कारण दिखाई नहीं देता ।

एक तरह के लोग होते हैं, जिन्हें स्त्रैण कहते हैं । शब्द स्वयं बुरा नहीं है, कहने वालों ने ही उसे बुरा कर रक्खा है । विचित्र बात है । कोई उच्छृंखल हो, तब उसकी खबर दूसरी तरह ली जायगी और कोई इसके विपरीत चले, तब उसे दूसरी तरह सताया जायगा । कुशल किसीकी किसी ओर नही है !

मानता हूँ, अपनी रचना मुझे प्रिय जान पड़ती है । कभी कभी उसे पाकर ऐसा हुआ है, जैसे इससे आगे अब और कुछ नहीं रह गया । उस समय विश्वास नहीं होता कि इससे अधिक संसार में किसीके पास कुछ और हो सकता है । एकाएक अलौकिक आनन्द मे सराबोर हो उठता हूँ । जान पड़ता है, जैसे मेरे हाथ कोई ऐसा पारस पड़ गया हो, जिसके स्पर्श से लोहे का यह संसार सोने ही सोने में बदलकर एकाएक अनिन्द्य और अमूल्य हो उठा है । तब भी अपने को स्त्रैण कहलाना मैं पसन्द नहीं करता । मुझे ऐसे लोग मिले हैं, जो मेरे उस पारस को, पत्थर तो क्या मिट्टी का ढेला भी नहीं कहना चाहते । किसीने रंगीन पत्थर कहकर उसकी सराहना की भी है, पर जैसा मैंने उसे समझा था वैसा किसीने नहीं कहा । उनकी बात का विरोध करने का विचार मेरा नहीं है । विरोध में सत्य की

अपेक्षा असत्य अधिक होता है । फिर भी, यदि यह न कहूँ कि मुझे अपनी रचना मे आनन्द मिला है, उसमे मैंने आपको पाया है, तो यह संसार का सबसे बड़ा असत्य हो जायगा ।

दूसरो की रचनाओ से मुझे द्वेष नहीं है । वे महान् हैं, अद्भुत है, पूज्य हैं । अपने आप उनके प्रति मस्तक झुक जाता है । उनकी पदधूलि पा सकूँ तो तर जाऊँ । अपनी महत्ता बढ़ाने के लिए मेरे लिए इतना कह देना बहुत होता है कि मैंने उनके दर्शन किये है । पर उनके निकट तुच्छ हूँ, न-कुछ के बराबर हूँ, तो क्या इसलिए अपने आपके निकट भी तुच्छ हो जाऊँ ? इतना बड़ा दण्ड अपने को दे न सकूँगा । अपने आपको इतना तुच्छ समझ ही बैठूँ तो वे मेरे महान्, वे मेरे अद्भुत, वे मेरे पूज्य, कहाँ टिकेंगे ? मेरे साथ उनका गौरव भी लुप्त हो जायगा । जिसमे स्वयं आत्म-सम्भ्रम नही, उसके द्वारा पूजित होने में पूज्य का सम्मान नहीं बढ़ता, उलटा वह अपमानित होता है ।

हम क्या कहेंगे उसे, जिसके माता-पिता और गुरुजन न हों ? वह अभागी है । जो इनकी गोद में खेला है, जिसने इनका लालन पाया है, जिसे इनके द्वारा सरस्वती का सुवर्ण-कमल मिला है, वह एक जगह अबोध होकर भी दूसरी जगह अपने को और कुछ समझने में स्वतन्त्र है । इससे श्रद्धेय में अश्रद्धा नहीं होती । वह इसकी उलटी दिशा मे है । गुरुजन

मेरे भी हैं। पर उनके प्रति अकृतज्ञ नहीं होता, जब मैं अपनी बात करता हूँ।

मुझे अपनी रचना अच्छी लगती है। न लगने का कोई कारण नहीं। अपने अधिकांश उत्सव हम अपने ही दीपकों के प्रकाश में सम्पन्न करते हैं। वहीं हमारा आनन्द गहरे में जमता है। इसमें न तो सूर्य के प्रति अवज्ञा है और न उसके प्रति अकृतज्ञता ही।

बड़ो बड़ो के सम्बन्ध में एक बात है। उनमे पूरा का पूरा युग संरक्षित होता है। उन्हें बड़े बड़े राजमहल कहना चाहिए, जिनमें देश के देश का, राष्ट्र के राष्ट्र का वैभव एक जगह प्रकट हो पडता है। वह वैभव वर्तमान का तो होता ही है, भविष्य का भी बहुत दूर का हो सकता है। कसर उसमें यह होती है कि वह किसी एक का नहीं होता। सब कोई उसे अपना कह सकते हैं। सब कोई वहाँ पहुँचकर एक-सा सुख और सन्तोष लाभ करते हैं। अनुपमेय होकर भी यहीं हमारे लिए उसकी अनुपमेयता नहीं रहती।

और हमारी कुटी हमारे लिए अपनी है। यहाँ जो सन्तोष है, हमारा है; यहाँ जो सुविधा है, हमारी है। दरिद्र होकर भी यहाँ मुझे अपना राजसिंहासन मिलता है। राजमहल में महमान बनकर जो स्वाद व्यंजन मिलें उनसे देह को कम पोषण नहीं मिलता; पर यहाँ, इस जगह का भोजन भी भूखे के लिए अमृत से कम नहीं। यह भी रुचि के साथ प्रेम-पूर्वक

ही ग्रहण करने के योग्य है।

भविष्य के तीर्थयात्री जब इस काल की तीर्थयात्रा के लिए निकलेंगे, तब वे बड़े बड़े महलों को देखकर ही लौट न जायँगे। बड़ों बड़ों से भेंट करके ही अपने को सफल न समझ लेंगे। हम जैसों की कुटियाँ भी उन्हें देखनी पड़ेंगी। सामान्य और साधारण से बात किये बिना बड़े बड़े समझे नहीं जाते। छोटी नाड़ी पर हाथ रखकर ही पूरे शरीर के स्वस्थ स्पन्दन का बोध होगा।

मैंने राजमहल देखे हैं, राजा देखे है, और रानियाँ भी देखी हैं। उनकी विशालता ने मुझे चमत्कृत किया है; उनके दान से मैं सुखी और सम्पन्न बना हूँ। उनके प्रति असीम विस्मय और श्रद्धा का भाव मुझमें है। जीवन में निरन्तर मुझे उनका अनुग्रह मिलेगा, निरन्तर मैं उनकी मधुर छाया चाहूँगा। पर यह सब होने पर भी किस तरह मैं अपनी कुटीरवासिनी को भुला दूँ? जैसी भी है, वह मेरी अपनी रचना है। और इसीलिए मैं उसे प्यार करता हूँ, प्रेम करता हूँ।

चैत्र कृष्ण १९९५

वर की बात

अपने विवाह की बात न कहूँगा। ठीक से याद नहीं, उसे बहुत दिन हो गये हैं। काम फिर भी चल सकता है।

उधार की रोकड़ से भी बड़ी बड़ी कोठियाँ चलती हैं। मुझे भी सुनी हुई बात ही कहनी पड़ेगी। सुना यह है कि वर ढाई दिन के लिए बादशाह बन जाता है। अपने बडो से भी ऊँचा आसन उसे दिया जाता है और सब उसके अनुगत रहते हैं। कोई विद्रोह का झण्डा ऊँचा नही करता। उसके स्वागत मे मंगल-कलश भरे जाते हैं, दीपमालिका जगाई जाती है, आनन्दगान होता है, उसे मन्त्रजल से पुरोहित अभिषिक्त करते हैं।

वधुओ को असन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। उनके लिए नहीं सुना कि वे ढाई दिन के लिए रानी बनती हैं। वे बनी-बनाई रानी हैं। बनने की बात उनके विषय में अच्छी नहीं लगती।

हाँ, वर ढाई दिन के लिए बादशाह बनता है। जीवन में यह सुयोग मिलता किसे नहीं? दरिद्र भी इस सौभाग्य से वंचित नही होता। उसे भी एक वार तो यह गौरव मिलता ही है। पर इसके साथ केवल ढाई दिन का मेल है। उसके बाद न वह सम्मान, न वह धूम-धाम, न वह आनन्द-उत्सव,—सब कुछ पहले के जैसा ही हो जाता है। जैसे किसी काली रात में किसी टूटे-फूटे घर की कठोर शय्या पर यह किसी राज-भवन का सुख-स्वप्न आ गया हो। नींद टूटी और वह राजसिंहासन उड़ गया। ढाई दिन क्षणो की तरह बीते और वह बादशाही नशे की तरह विलीन हुई। फिर इसके

बाद वह याद रखने की भी वस्तु नहीं रहती।

नहीं रहती, न रहे। बड़े बड़े साम्राज्य भी इसी तरह बिलट जाते हैं। न उनकी सेना रहती है, न उनके वन्दीजन रहते है, न उनका राजकोष रहता है। कुछ भी नही रहता, न जानें कौन कहाँ से आकर इन सबको छिन्न-भिन्न कर जाता है। रहने के लिए बड़े बड़े खँडहर रह जाते है, जिनका काम ही गिर पड़ना है। चेष्टा की जाती है कि वे कुछ और खडे रह सकें। इसके लिए चन्दे की झोली साधारण से साधारण जन के सामने फैलाई जाती है। किसी अपाहिज, लूले-लँगड़े और अन्धे फकीर की रक्षा होनी ही चाहिए। कुली-मजदूर और स्वयं अपना पेट न भर सकने वाले का दान भी उसके लिए ग्राह्य है। ऐसा हाल होता है उन बड़े बड़े राजमहलों का!

तब घर की बादशाही ढाई दिन रहती है, तो इसमें घबराने की बात नही। महत्ता थोड़ी ही होनी चाहिए। अधिक का बोझ सँभालेगा कौन? हमारे भोजन में नमक का महत्व बहुत है। गुजराती में उसीको 'मोठु' कहते हैं। और हम तो इससे भी आगे बढ़ गये हैं; हमने उसका नाम 'रामरस' रख छोड़ा है। पर उसीको लेकर हम आहार के आसन पर बैठ जायँ, तो वह विष हो जायगा। इसी तरह का वह हमारा ढाई दिन है। अधिक होने पर वह सह्य नहीं होता। हमारे कमरे में दीपशिखा का स्थान परिमित न हो, तो हम बैठेंगे कहाँ? न कमरे की छोटी दीपशिखा के कारण आपत्ति होनी

चाहिए और न इस कारण वर को ही कि हमें केवल ये ढाई दिन दिये गये हैं ।

उत्सव इसीलिए सुन्दर है कि वह थोडे समय मे ही सम्पन्न हो जाता है । पर्व इसीलिए पवित्र माना गया है कि वह प्रति दिन अपने चन्दे की बही हाथ मे लेकर, प्रातःकाल और सन्ध्या समय हमारे दरवाजे आकर खडा नही हो जाता । बीच में जितना अधिक समय छोड़कर जितने कम समय के लिए वह आता है, उतनी ही अधिक उसकी अभ्यर्थना की जाती है । जीवन को हम पूरी बादशाही में बदल लें, तो वह जीवन ही न रह सकेगा । इसलिए यह अच्छा ही हुआ कि वर के मस्तक पर बादशाही का यह ताज बहुत देर तक जमा नहीं रह जाता । यह ऐसा है कि इसमें से न जाने किस तरह कॉटे ही कॉटे उगने लगते हैं ।

याद आती है, एक बार कुतुबमीनार पर चढ़ने का अवसर मिला था । देखा, दूर दूर तक जो कुछ दिखाई देता है, वह जैसे और कुछ हो गया हो । वह अब एक चित्र है, वास्तविकता मानों उसमें से निकल गई है । सारी की सारी दिल्ली पैरो के नीचे थी । नई और पुरानी का भेद उसमे कुछ नहीं रहा । उसमें वह वायसरीगल लॉज भी था, जहॉ आधुनिक दिन है; और उसमें वह लाल किला भी था, जो अपनी चार-दीवारी में कयामत के दिन तक के लिए गहरी नींद ले रहा है । कौतुक भी हुआ, आनन्द भी कुछ कम न आया । पर थोड़ी ही

२३

देर में जान पड़ने लगा कि यहाँ पर जैसे किसीने कैद कर रक्खा हो। यहाँ ऊँचाई तो है, पर यह मस्तक की ऊँचाई नहीं है, जिसे हम अपनी कह सकें। ऐसी ऊँचाई रहने के लिए नहीं होती। ऊपर पहुँच कर यदि यह निश्चिन्तता न होती कि उतरने की सीढ़ियाँ किसीने तोड़ नहीं डाली है, तब जो घबराहट होती, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। इसीसे जब किसी तरह नीचे आकर अपने साथियों से आ मिला, तभी जैसे उस ऊँचाई पर जाने का आनन्द पूरा हुआ। चढ़ने का आनन्द उतर सकने में है।

वर की हालत भी ऐसी ही होती होगी। उसके सम्मान-शिखर की ऊँचाई निश्चित रूप से ढाई दिन की होती है। यह निश्चिन्तता उसे पहले से न हो, तो वह इसे स्वीकार ही नहीं कर सकता। वह जानता है, यहाँ जो ये इतने दीपक आलोकित हो रहे हैं, इनमें अक्षय घृत नहीं भरा है; उसे पता है, यहाँ जो यह संगीत का प्रवाह है, वह आगे के किसी घाट पर पहुँच जायगा; उसे विश्वास है, यहाँ जो इतने स्वजन-बन्धु एकत्र हैं, यहीं बैठे बैठे उनके पैर दूखने लगेंगे। इस सबसे उसे निराशा नहीं होती। वह चाहता भी यही है। वह चाहता है, किसी तरह इस ढाई दिन को लाँघ कर आगे उड़ जाय।

कारण क्या है? यहाँ के इस आलोक से उसकी आँखें शीतल न होती हों, ऐसा नहीं है। अशोभन और अरुचिकर यहाँ दिखाई नहीं देता। यहाँ के इन स्वजनो में आदर का, स्नेह का, प्यार का, श्रद्धा का, 'आत्मीयता का लाभ भी उसे

भरपूर मिला है। यहाँ यह सब ठीक है। और ठीक यह भी है कि इतने पर भी इस ढाई दिन को वह और बढ़ाना नहीं चाहता। उसका मन लगा है, उस छोटे से स्थान की ओर, जहाँ न यह भीड़-भाड़ है और न यह धूम-धाम ही। जहाँ एक छोटा दीपक जल रहा हो, जहाँ सङ्गीत सन्नाटे में घुलमिलकर एक रूप हो गया हो, जहाँ सारे स्वजन-बन्धु किसी एक मूर्ति में प्रतिफलित होकर अपना श्रेष्ठ दान दे गये हों। उसी स्थान के लिए वर का जी दौड़ रहा है। ठीक ही दौड़ रहा है। इस विषय में वह गलती पर नहीं है। मैं उससे सहमत हूँ, मैं उसका सहकांक्षी हूँ। ये ढाई दिन उसके नवजीवन के बेठन हैं। इन्हे हटा देने पर ही असली चीज मिल सकेगी।

जितने वर हैं, सब इसी जैसे हैं। पर विस्मय हुआ, जब आज एक ऐसा वर भी दिखाई दे गया जो चाहता है, उसक ये ढाई दिन कभी समाप्त न हों। समझ में उसकी बात आ नहीं रही है। हो सकता है, कोई गहरी बात हो। शायद आपमें से कोई साहब समझा सकें। समझा सकेंगे ?

चैत्र कृष्ण' ९५

धन्यवाद

सम्पादक महोदय ने मेरा लेख लौटा दिया है। यों ही नहीं लौटा दिया है, 'धन्यवाद पूर्वक' लौटाया है। यह

'धन्यवाद' किस बात का ?

लेख उन्हें ऐसा पढ़ना पड़ा, जो उनके काम का न था। इस बीच में, सम्भव है, वे ऐसा कुछ पढ़ते जो उनके उपयोग में आता। सोचा जा सकता है, सुनहली जिल्द के बढ़िया लिबास में कोई विदेशी लेखक उस समय उनकी मेज पर होगा। उससे उन्हे कहना पड़ा होगा—आप जरा ठहरें। यह कोई सुखद बात नहीं हुई। और फिर इसके बाद मेरा लेख पढ़कर उन्हे मेरी असफलता से भी कष्ट पहुँच सकता है। मेरा लेख उन्होने लौटा दिया है, फिर भी यह कैसे कहूँ कि वे निर्दय हैं। प्रत्येक सुहृदय को दूसरे के दुःख से दुःख होना चाहिए। इतने पर भी धन्यवाद उन्होंने मुझे दिया है। इस धन्यवाद की गुरुता एक बात से और बढ जाती है। लेख लौटाने के लिए डाकखर्च मैंने नही भेजा था। किसी अन्य लेखक को भी ऐसी भूल नहीं करनी चाहिए। साथ मे डाक के टिकट होने से लेख को पढ़े बिना ही सम्पादक के मन मे लेखक के प्रति एक हीनता का भाव उत्पन्न हो जाता है। और दूसरी बात; अपना लेख वापस करवाने मे लेखक ही सम्पादक की सहायता पैसे से करे, यह बुद्धिमानी नहीं है।

यह तो हुआ। सम्पादक महोदय का दिया धन्यवाद कहाँ रक्खूँ, यह समझ मे नही आता। किसी अकिञ्चन ने एक विशेष अवसर पर अपने किसी धनी बन्धु को कोई उपहार भेजा। दूसरे दिन वह देखता है कि उसका उपहार लौट आया

है और उसीके साथ दस रुपये का एक नोट भी है। पाने वाले के लिए दस रुपयों का मूल्य थोडा नहीं। फिर भी उसकी समझ में नहीं आता कि नोट का वह करे क्या। यही दशा इस धन्यवाद को पाकर मेरी है। न तो इसे अपने पास रख सकता हूँ और न इस कृपा के लिए अपना प्रति-धन्यवाद सम्पादक महोदय के पास भेज सकता हूँ। वहाँ का दरवाजा जैसे मेरे लिए बन्द है।

सम्पादक महोदय ने मेरे लेख के विषय में कुछ नहीं लिखा है। लिखना चाहते, तो लिख क्या नहीं सकते थे? लिखते कि भाषा बहुत बुरी है। सूचित करते कि विषय सार्वजनिक हित का नहीं। सम्पादक होने के नाते यह सिखा देने का भी उनका अधिकार कम न था कि कलम इस तरह पकडी जाती है। ऐसी किसी बात में उत्तर-प्रत्युत्तर की कमी मेरे लिए न रहती। पर उन्होंने तो केवल 'धन्यवाद' लिखा है। मेरे लिए यह शब्द अत्यन्त दुरूह है। कहीं से इसका कोई अर्थ निकाल लो, यह प्रतिवाद नही करेगा। इधर से पकड़ो या उधर से, ऊपर से छुओ या नीचे से, आपित्त इसे किसी तरह की न होगी। कुछ समझ में नही आता कि इस गोल लट्टू का सिरा है कहाँ पर। मान कही लिया जा सकता है, पर है कहीं नहीं।

ऐसे शब्द को हम निरर्थक कह सकते हैं। उनके लिए मेरा लेख निरर्थक है, मेरे लिए उनका धन्यवाद।

परन्तु नहीं । उनके धन्यवाद को निरर्थक नहीं कह सकता । यह एक ऐसा सिक्का है, जो परस्पर विरोधी देशो में एक-सा चल सकता है । 'हाँ' मे इसे जितनी गुंजाइश है, उतनी ही 'नही' में । 'देने' मे और 'न-देने' मे यह एक-सा उदार है ।

इसे सँभाल कर रक्खूँगा । आधुनिक सभ्यता की यह एक बहुत बड़ी देन है । अच्छे में और बुरे मे, खोटे मे और खरे मे, कही भी यह बेखटके चलाया जा सकता है ।

चैत कृष्ण १९९५

साल का नया दिन

नये संवत् का पहला दिन है । जो वर्ष कल तक था, वह आज नहीं रहा । रात के साथ अँधेरा रहते रहते वह किसी ऐसे देश की यात्रा पर चला गया है, जहाँ से लौट नहीं सकता । कुछ ही घंटे हुए है अभी,—फिर भी किसी मोटर-गाड़ी या हवाई जहाज के द्वारा भी उसका पीछा असम्भव है । किसी तरह अब उसके लौटने का उपाय नहीं रहा । जो जलधारा समुद्र से जा मिलती है, भले ही तट के पास हो, तब भी वह थल की नहीं रहती; उसका कुल और गोत्र और नाम बदल जाता है ।

थल को सन्तोष है । उसका जल समुद्र से जा मिला है, तब भी उसका भण्डार रीत नही गया । वह उसी तरह बह रहा है, वह उसी तरह लहरा रहा है । क्षण भर के लिए भी

वह कुण्ठित नहीं दिखाई देता। उसमें पहले की तरह ही गति नृत्य है। उसकी निरन्तरता टूट नहीं गई। उसकी धारा कल्पधारा है। लेने वाले को वह निराश नहीं करेगी। बराबर वह आनन्ददान करती जा रही है।

जलधारा जैसा ही समयधारा का हाल है। दिन गये, रातें गईं; पखवारे बीते, महीने गत हुए। धीरे धीरे अथवा जल्द जल्द, एक ही चाल से अब यह पूरा का पूरा बरस चला गया है। चला गया है, फिर भी जान नहीं पड़ता कि कुछ रुक गया हो। कुछ घंटे पहले पिछला साल था और अब यह अगला है। इन दोनों के बीच में विच्छेद का स्वर कहाँ खनक उठा था, इसका पता नही चलता। रात और दिन की धूप-छाँह के एक ही अखण्ड वस्त्र में कहीं गाँठ या जोड़ या सीवन आ पड़ने का प्रसङ्ग तक नहीं उठा।

समय जाता है और समय आता है। बीच में छेद नहीं पड़ता। यह क्रम न जानें कब से चल रहा है। आगे और पीछे की ओर जितना देखते हैं, इसके सिवा और कुछ देखा और समझा नहीं जाता। कभी दिन और रात छोटे हुए और कभी बड़े हुए। यह ऐसी बात है कि कभी माप का गज छोटा है और कभी बड़ा। मापी जाने वाली वस्तु इससे छोटी या बड़ी नहीं होती। काल अनन्त है, अक्षय और अखण्ड है।

फिर भी हमें उसके खण्ड-खण्ड करने पड़ते हैं। फिर भी हमें उसकी सीमा बाँधनी पड़ती है। ऐसा किये बिना

हमारा चलावा नहीं चलता। वैज्ञानिक कहता है, पदार्थ के अणु और परमाणु विच्छिन्न कर दो, तो उसमें से एक दुर्निवार शक्ति प्रकट हो पड़ेगी। काल के ये अणु और परमाणु अलग अलग करके हम अपने जीवन मे नई गति, नई स्फूर्ति और नया बल पाना चाहते हैं। इसीके लिए यह वर्ष की कल्पना है।

एक ही चैत के हम दो टुकड़े कर देते है। आधे चैत से ही हमारा यह साल चला है। जिस आधे में अन्धकार था, उसे छोड़ दिया है। छोड़ते हुए हमारे मन में विषाद का, मोह का उदय नहीं हुआ। अब जिस अगले आधे में प्रकाश है, मधुर और शीतल चाँदनी है, उसे हम नये साल में लेकर आगे बढ़ते हैं। आज प्रतिपदा है। आज चन्द्रमा की एक भी किरण हमें न मिलेगी। फिर भी आज ही हम यह वर्षोत्सव मनाने चले हैं। हम जानते है, इस अँधेरे के आगे ही प्रकाश प्रकट हो पड़ेगा। इसी श्रद्धा को लेकर हमने इस मधु-मास का खण्डीकरण किया है। आज का दिन अखण्ड को, अनन्त को, अपरिमित को मुट्ठी में लेकर देखने का है। अपने को तटस्थ करके काल से आज हमें यह कहना है—ठहरो, रुको तो; हथेली पर उठाकर आज हम तुम्हारी तौल करना चाहते हैं!

चैत्र शुक्ल १—'९६

अबोध

जिस बालक की वाणी अभी अभी फूटी है, जब वह कुछ उच्चारण करता है, बिना किसी सहारे के अधर में हाथ फैलाकर खडा होता है, तब तत्काल उसकी इच्छा होती है कि दूसरे उसे देखें, उसकी प्रशंसा जी खोलकर करें और स्वयं प्रसन्न होकर संसार के इस अपूर्व आश्चर्य से वंचित न हो जायँ। वह सोचता है, उसके कार्य में असाधारणता है। अद्भुत पर उसने विजय पाई है। उसे छोड़कर और किसीके द्वारा यह कौशल सम्भव नहीं। देखने वाले भी उसकी विद्वत्ता और बहादुरी पर तालियाँ पीटते हैं, और तब वह फिर से अपना करतब दिखाता है। सोचता है, संसार में समझदारों की कमी नहीं। कभी ऐसा भी हो जाता है कि ऐसे समझदार उसकी ओर ध्यान नहीं दे पाते। तब उसे दुःख होता है। उसे विश्वास नहीं होता कि उसे देखना छोड़कर दुनिया में और कुछ जरूरी हो सकता है।

लेखकों मे भी ऐसे बालक दिखाई पड़ते हैं। वे चाहते हैं कि उनके प्रत्येक शब्द पर, उनकी प्रत्येक कविता, लेख या पुस्तक पर चारो ओर से तड़ातड़ तालियाँ बजने लगें। जब ऐसा दिखाई नहीं देता, तभी उनका जी बैठ जाता है। उन्हे अनुभव होने लगता है कि संसार में गुणज्ञता का दिवाला पिट गया है, गुणी मात्र के लिए उसमे गुंजाइश नहीं। ऐसे व्यक्ति

न तो अपने लिए उपयोगी है और न साहित्य के लिए ही। वयस्क बौनो का प्रदर्शन कहीं कहीं व्यापार के लिए किया जाता है। वैसे लोग इस काम मे भी नही बरते जा सकते।

छोड़ो दूसरे की प्रशंसा का सहारा! बहुत-सी प्रशंसाएँ बालको को दी जाने वाली वाहवाही से बढ़कर नही होतीं। किसी जगह महत्वपूर्ण और आवश्यक वे भी है। पर उन्हीको पकड़कर क्या चिरकाल तक हम शिशु ही बने रहेगे? अपने आप बोल सकने और चल सकने की क्षमता क्या कभी हममे उत्पन्न ही न होगी?

बोलना वही है, जो अपने आप बोला जा सके; चलना वही है, जो अपने आप चला जा सके; और इसी तरह लिखना वही है, जो अपने आप लिखा जा सके। जब तक अपने आप पर अवलम्बित नहीं होते, तब तक हम अबोध और दयनीय रहते हैं। इस अवस्था से पार होने पर ही हमारे साहित्य में बल का, ओज का और तारुण्य का उदय होगा। और किसीका नहीं, तो अपने आपका मंगल तो उससे हम कर ही कर सकेंगे। यह बात असंदिग्ध है।

वैसाख कृष्ण १९९६

हिमालय की झलक

लखनऊ से रात को साढ़े दस बजे गाड़ी छूटती थी। कुछ पहले ही स्टेशन पहुँच गया। इरादा था कि कुछ अच्छी-

सी जगह पा सकूँ। मित्र ने इन्टर क्लास में बैठने का आग्रह कर दिया था। यह दरजा कुलीन गरीबो का दरजा है। हम जैसे अनेक दूसरे जन भी दरजा बढ़ाने की धुन में रहते हैं। इसलिए भीड़ की आशंका थी। ताँगे से उतरते ही कुली ने बतलाया कि इन्टर में बैठिएगा, तो आगे एक जगह गाड़ी बदलनी होगी। तीसरे दरजे का एक डिब्बा सीधा काठगोदाम तक जाता है। रेलवालों को मुझे धन्यवाद देना पड़ा। किसी उद्देशय से क्यो न यह प्रबन्ध किया गया हो, उन्होंने मेरे कुछ पैसे बचा दिये। तीसरे दरजे में बैठने का ही निश्चय मुझे करना पड़ा। योग्यता की पहली परीक्षा में एक अपरिचित सज्जन की कृपा से निश्चिन्तता मिल गई। टिकट की खिड़की पर वहाँ किसी कँगलों की-सी भीड़ को टिकट-दान किया जा रहा था। वहाँ से मेरे लिए टिकट लाकर उन्होने मुझे घायल हो जाने से बचा लिया।

हमारा डिब्बा गाड़ी के अन्त मे था। लोग अग्रगामी होना पसन्द करते हैं। इसलिए अधिक भीड़ से अनायास ही हम लोग बच गये। किसी तरह बिस्तरा लगा लेने योग्य जगह वहाँ मिल गई। जब मिल गई, तब वह अपनी ही अपनी है। सबके सब हमारे देशवासी इतने भले हैं कि किसीको उसके चाहे जैसे अधिकार से वंचित करने का पाप वे नहीं लेते।

आकाश बादलों से घिरा था। रात अँधेरी। पता नहीं चलता था, कहाँ आकर गाड़ी रुकी और फिर कहाँ के लिए

रवाना हो गई है । अज्ञात और अदृश्य की ओर बढ़े जा रहे थे । फिर भी निश्चिन्तता थी । सो सकते थे, पर सो नही सके । पानी बरस जाने से लैम्प के आस-पास और पूरे डिब्बे मे पतिंगो की भरमार थी । इन बिना-टिकटो की संख्या का प्रश्न ही क्या ? अपने प्रदीप्त प्रेमी के निकट आकर आत्म-समर्पण करने का अधिकार उनका था। खेद और दुःख इतना ही कि हम सभी यात्रियो को उन्होंने लैम्प का ही भाई-बन्द समझ रक्खा था। ढेर के ढेर आ आकर ऊपर गिरते थे। हम लोग किसी तरह उन्हें विश्वास न दिला सके कि हमारे भीतर या बाहर कही एक कण चिनगारी नहीं, तुम धोखा खा रहे हो।

पीलीभीत के आस पास कहीं सबेरा हुआ। इस नाम के साथ किसी अभूत स्वर्णाभा की कल्पना थी । वह पूरी नहीं हुई। मैदान अधिक दिखाई पडा, पेड़-पौधे कम । एक जगह सड़क पर देखा कि एक आदमी दुबले-पतले और हड्डी-निकले टट्टू पर सवार है । उसके पीछे कुछ अन्तर पर अपने महावत को लिये एक हाथी सूँड़ हिलाता हुआ अपनी सहज चाल से चला आता है। बड़ी देर तक यह घटना भुलाये नहीं भूली।

उत्सुकता बढ़ती गई कि कहाँ पहले पहल गिरिराज के दर्शन होते है । सहयात्रियो को यह कुछ अजीब बात जान पड़ी। यह पेड़ कौन-सा है, वह सड़क कहाँ को जाती है, पहले पहल हिमालय के शैल-शिखर कहाँ से दीखते हैं, ये बातें उनके लिए महत्व की न थीं। इन प्रश्नों के साथ ही उन्होने एक

विख्यात नगर की चर्चा छेड़ दी । उस नगर का नाम बताकर मूर्ख न बनूँगा । वहाँ के लोग उस तरह के प्रश्न करते हैं । अचरज की बात यह है कि सहयात्री यह कैसे जान गये कि उनके उस कौतुकनगर से मेरा कुछ सम्बन्ध है । एक बार मैं भाग्य का मारा वहाँ पहुँच चुका हूँ ।

अन्त में शिखर-श्रेणी ने दर्शन दिये, और मन ही मन मैंने गुनगुनाया—

शैलराज, तुमको प्रणाम है,
भूतल के पाप-ताप-हारी हर,
दर्शन तुम्हारा तुम्हारा पुण्यकारी कर,
पूर्ण मनःकाम है ।

परन्तु नहीं । अभी मनःकाम पूरा हुआ कहाँ है ? अभी तो इतना ही देखा है कि पुञ्जीभूत श्यामघन धरती से ऊपर उठकर वहाँ आकाश में फैलना चाहते हैं ।

एक नदी के निकट होकर रेलगाड़ी आगे बढ़ने लगी । नदी थी या नाला, कोई नहीं बता सका । हिमालय का नाला भी क्या हमारे यहाँ के नालों जैसा दुबला-पतला होगा ? काले रंग की मोटी रेत का लम्बा-चौडा पाट और उसके बीच मे धूप से चमचममाती हुई एक पतली रजत-जल-धारा । मानो बहुत अधिक मार्जिन देकर छपी हुई कोई हृदयहारिणी कविता हो । नाम उसका मालूम नहीं हो सका, उसकी कल-मुखर ध्वनि कानों तक नहीं पहुँच सकी; फिर भी वह विना परिचय

के हृदय के एक कोने मे अंकित हो गई है।

गाड़ी काठगोदाम आकर रुकी। यहीं नैनीताल के लिए मोटर लारी मिलेगी।

लारी स्टार्ट होकर चल पड़ी। जगह आगे की ओर ही मिल गई थी। गाडी की छत नीची थी। आस पास का दृश्य पूरा दिखाई न देता था। जब हम इस अतुल आकाश मे डुबकी लेने जा रहे है, तब छत की यह बड़ी-सी पट्टी आँखो को बहुत क्लेशकर प्रतीत होती है।

पक्की सड़क चक्कर खाती हुई ऊपर गई है। इधर-उधर चोटियाॅ ही चोटियाॅ, वृक्ष ही वृक्ष। हिमालय के वृक्ष बौने कम होते हैं। अपनी भूमि की उँचाई के प्रसाद से वे वञ्चित नहीं है। जैसे जैसे उँचाई पर चढते गये, दृश्य की सुन्दरता बढ़ने लगी। अब तक भूमि पर ही यात्रा करने का अवसर पाया था। आज हमारी गाड़ी मानो आकाश पर चढ़ रही हो!

आगे या ऊपर की ओर बढ़ते चले गये। कहीं बहुत निचाई पर कुछ घरो की बस्तियाॅ दिखाई दी। आदमी बहुत कम देखने में आये। स्त्रियाॅ कचित् ही। खेत एकदम विचित्र थे। हाथ डेढ़ हाथ लम्बी,—ऊपर से इतनी ही लम्बाई जान पड़ती थी,—सीढ़ियाँ थीं। मालूम हुआ, यहाँ के खेत यही हैं। कोई बताता नही, तो उन सोपान-पंक्तियो को खेत कौन समझता?

अब तक निर्झर एक भी दिखाई नहीं पड़ा था। निर्झरों

के द्वारा ही रसातल अपना स्नेह इस ऊँचाई के प्रति अर्पित करता है। यहाँ के लिए जैसे हम सब रसातल के ही पडोसी थे। इसीसे निर्झर देखकर तृप्त होने की इच्छा थी। एक जगह एक नदी-सी दिखाई दे गई। पर कदाचित् इन दिनो उसका कोई निर्जल-व्रत था। आगे किसी जगह दूर से एक क्षीण जलधारा देखकर बडा कौतूहल हुआ। पता नही, किस पुनीत सरिता का बाल्यकाल उसमें था। नाम-हीन, परिचय-हीन, इस धारा ने आगे चलकर किस विराट् गरिमा को धारण किया है, यह हमसे कोई नही बता सका। किसी बहुत बड़े लोकनायक को, किसी वन्दनीय कविर्मनीषी को, लौटकर हम उसके बाल्य-काल में देखें, चित्र में नही प्रत्यक्ष, तब जो पुलक हममें उठ खड़ा हो, वही इस जलधारा से मेरे मन में हुआ।

सहसा नीचे की ओर एक सड़क दिखाई दी। पूछा—यह दूसरा रास्ता कहाँ को है! बताया गया—"वही तो, जिस पर चले आ रहे है।" जान पड़ा, सड़क को दूनर करके जैसे किसीने उसकी तह कर दी हो। यहाँ अब हम बहुत ऊँचाई पर आ गये हैं। नीचे की ओर खड्ड पर खड्ड, और ऊपर हमारी गाडी सरपट दौडी जाती है। ड्राइवर जरा भी असावधान हुआ नहीं कि फिर क्या हो, कौन जानें। इन भयंकर गर्तों को देखकर चक्कर आता है। मै ही नही, दूसरों को भी चक्कर आते हैं, यह जानकर सन्तोष की साँस लिये विना नहीं रहा गया! एक जगह निचाई देखकर क्षणभर के लिए आँखें झँप गईं।

अपनी "मंजुघोष" कविता का एक अंश याद हो आया। देवलोक से शम्पा (बिजली) अपने स्वामी मेघ के साथ हिमालय पर जहाँ आती है, वहाँ एक जगह की निचाई देखकर उसे भय होता है। मेरी वह कल्पना, कोरी कल्पना नहीं है, इस विचार से आनन्द का अनुभव हुआ।

इतनी ऊँचाई पर पहुँच गया हूँ कि नीचे के खड्डों में बादल दिखाई पड़ते हैं। आकाश हमारे नीचे है! दूर दूर तक, जहाँ तक दृष्टि जाती है, ऐसा जान पडता है कि शान्त समुद्र हो। उस समुद्र मे ही हम तैरे जा रहे है। इस समुद्र में तरंगाघात नहीं हैं। शान्त, निश्चल, सुविस्तीर्ण। ऐसे समुद्र की पहले कल्पना नहीं की थी। पहाड़ हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। इस स्वनिर्मित समुद्र मे जैसे उसने डुबकी ली हो। अब फिर गिरिराज, और हमारी गाड़ी एक इमारत के पास पहुँचकर रुक गई। नैनीताल निकट ही है और उसीका यह चुङ्गीघर है। प्रकृति के विशाल क्रीड़ाक्षेत्र पर मनुष्य-कृत यह रचना रुचिकर नहीं जान पड़ी। अपने में डूबा-डूबा मै गुनगुना रहा था—

"(शम्पे, प्रिये शम्पे,) यही पावन नगाधिराज;
करके अचंचल नयन आज
कर लो निमज्जित पवित्र पयोद्रुम में,
दिव और भव के विचित्र इस सङ्गम में!"

इस सङ्गम में जैसे यह कहीं का कर्दम आ पड़ा हो। प्रत्येक यात्री को यहाँ एक रुपया कर चुकाना पड़ा।

आगे के मोटर स्टैन्ड का पहला ही दृश्य भीषण था। कुलियों के एक झुन्ड ने आकर मोटर और मोटरयात्रियो पर हल्ला बोल दिया। जी एक दम घबरा उठा। कपड़े कुलियों के शरीर पर थे, पर क्या कपड़े ही उन्हें कहना चाहिए ? किसी मरणासन्न वृद्ध को बालक कह सकें, तो उन चिथड़ों को भी हम कपड़े कह सकते हैं। "बाबू, हम आपका सामान ले चलेंगे, हमें ले चलिए, हमें !"—उनकी इस कातर प्रार्थना में न जानें क्या बात थी कि जी कॉप उठा। उसमें कातरता थी, उसमे धिक्कार था, उसमे भर्त्सना थी। क्या नही था उसमें ?

पहला जो कुली सामने आ गया, उसीसे हॉमी भर देनी पड़ी। सब के योग्य सामान मेरे पास न था। कुली सामान सँभाल ही रहा था, इतने में उसका एक दूसरा भाई आ पहुँचा। पहला चाहता था कि हमीं सब सामान ले जायँगे, दूसरा कहता था—हम। अन्त मे एक का सामान दो में बॉट देना पड़ा। दूसरे ने कोई तर्क सुनना पसन्द नहीं किया। उनमें एक छत्री था, दूसरा ठाकुर। दोनों लड-झगडकर रवाना हुए।

यह नैनीताल है, लगभग एक मील लम्बी झील। नीले रंग का शान्त सरोवर। इस समय तरङ्गायित नहीं है। शान्त है, सुस्मित है। अन्य सरोवरो की भॉति यहॉ स्नान और जल-क्रीड़ा का उत्सव नही दिखाई दिया। दर्शन से ही यह शरीर और मन को शीतलता पहुँचाता है। जल-विहार के लिए कुछ नौकाएँ तट पर बँधी हैं। झील के किनारे किनारे चलकर यह

यह पतली सड़क ऊपर चढ़ गई है, जिसे एक ओर के इस ऊँचे शैल को काट कर तैयार किया गया है। ऊपर सघन वृक्षराजि है। बड़ी बड़ी शिलाएँ अपना अर्द्धभाग कटवाकर अपनी जगह स्थिर हैं। भूकम्प के कठोर हाथो से कोई अदृश्य और अज्ञात इनमे से किसीको मचमचा दे, तो क्या हो? यहाँ इनके नीचे हम लोग जो चल रहे हैं, उनका क्या हो? प्रश्न ऐसा है कि इसे टाल ही देना चाहिए।

शीत यहाँ काफी है। गरमी के कपड़ो से काम न चलेगा। इसी समय अनेक महिलाएँ झुण्ड की झुण्ड दिखाई दीं। प्राचीनाएँ भी, और आधुनिकाएँ भी। रंग-बिरंगे बारीक वस्त्र धारण किये हुए। देखकर तसल्ली होती है कि आक्रमण कर देने के लिए निमोनिया इसी समय यहाँ सन्नद्ध नहीं खड़ा है। देवियाँ देवताओ मे साहस का, पौरुष का संचार करती हैं, इसका एक नया प्रमाण मिला।

अपने डेरे पर आ पहुँचा हूँ। काफी सुन्दर स्थान है। स्वागत करने वालो से एक ही शिकायत। वे अतिथि के रूप में मुझे लेना चाहते हैं। मै चाहता हूँ, मै उन्हीमें का एक हो जाऊँ। बाहरी जन होकर सम्मान और आदर विशेष मिलता है, परन्तु घाटे में भी कम नहीं रहना पड़ता।

समुद्र-तल से लगभग सात हजार फुट की ऊँचाई यह है। इसका मतलब यह हुआ कि सूर्य के इतने निकट पहुँच गया हूँ। साधारण न्याय से सूर्य का उत्ताप यहाँ अधिक होना

चाहिए। पर बड़ो के सम्बन्ध मे साधारण न्याय से विचार करना कदाचित् ठीक नही होता।

जहाँ से चला था, वहाँ इन दिनो जून का महीना है। और यहाँ इस जगह नवम्बर, दिसम्बर। बारह घंटे की यात्रा मे ही महीनों की यह दूरी पार कर ली है। आग की भट्टी मे तपते हुए लोहे को पानी में डुबोकर पक्का किया जाता है। मेरा शरीर लोहे का नहीं है। इसलिए कह नहीं सकता, इस परिवर्तन का उस पर क्या असर होगा।

यहाँ का तापमान जानने के लिए आतिथेय महोदय ने दिल्ली के एक इंग्लिश पत्र की शरण ली। बात साधारण है, फिर भी कम कौतुककर नही।

सांयकाल मित्र महोदय के साथ भ्रमण के लिए निकला। यहाँ न इक्के ताँगो की खड़खड़ है और न मोटरों का कटु-कोलाहल। सवारी यहाँ घोड़े की है। आदमी भी इस काम को करता है। आदमी की इस सवारी का नाम है दाँड़ी। पौराणिव भाषा में इसे नहुष-यान कह सकते है। पालकी की तरह बाहव जन इसे कन्धो पर ढोते हैं। सड़कें ऊँची-नीची। मनुष्य वं काबू में आकर भी अपनी गिरि-जातीयता का परित्याग इन्होंने नहीं किया है।

नगर के मूल निवासी कितने है, कह नहीं सकता दत्तक-निवासी ही अधिक दिखाई दिये। न जानें कहाँ का से आकर इकट्ठे हुए हैं।

झील के किनारे इस समय विशेष चहल-पहल रहती है। इसीके एक ओर यहाँ की कुलीन, अर्थात् बड़े लोगों की दूकानें हैं। पर वहाँ इस समय मौसम की तरह ही बाजार भी ठंढा था।

आसन्न रात्रि-वेला में बिजली का प्रकाश जगमगा उठा है। इधर-उधर ऊँची चोटियो पर यत्र-तत्र छिटकी हुई कोठियो के बिजली के प्रदीप एक विचित्र छटा धारण किये हैं। इन ऊँची चोटियो के मिष, जान पड़ता है, नक्षत्र-खचित आकाश का कोई दुपट्टा नीचे की ओर छहर पड़ा हो।

और इन चोटियो पर यह धूम-पुंज ? कहाँ से ये बादल इनमें से निकल पड़े ! शीतल आग का अनुभव बरफ में होता है, परन्तु यह तो शीतल धुआँ है। इन शिखरों पर कभी बरफ की आग फैलेगी, इसीके पूर्वरूप में यह धुआँ गुँगा उठा है। कितना सुन्दर, कितना मनोमोहक, कितना लुभावना ! गिरिराज की यज्ञ-वेदियो में जैसे यह आहुति-दान का चिह्न हो।

× × × ×

रात मे लगातार अविश्रान्त बरसा होती रही। बन्द कमरे के भीतर से ही वृक्षो का मर्मर रव और वृष्टिधारा की सनसनाहट अधजागते और जागते कानो से सुनता रहा।

सबेरे एक बन्धु के बँगले की खोज मे निकला। बादल इस समय साफ हो गया है। फिर भी यहाँ के बादल का विश्वास कौन करे ? हाथ मे छाता ले लेना ही उचित है। युद्ध

मे लौह-कवच और वृष्टि में छाता, अधिक नहीं-तो कुछ सहायता तो करते ही हैं। बन्धु का बँगला बहुत दूर नहीं, इसलिए किसी साथी को कष्ट देना व्यर्थ है। अकेला ही निकल पड़ा हूँ। चढ़ाई और उतराई, उतराई और चढ़ाई। एक सड़क इधर को निकल गई है, दूसरी उधर को। आदमियों के नये नये नमूने, छोटे और बड़े और मझोले, सफेद और काले, नर और मादा, कीमती और धूल-कंकड़ की तरह सस्ते, सबके सब यहाँ वहाँ आ-जा रहे हैं। इतना अधिक चल चुका हूँ, फिर भी मित्र के बँगले तक पहुँच नहीं सका। यहाँ की निकटता भी हिमालय की भाँति लम्बी-चौड़ी है। पूछने पर एक भद्र पुरुष ने बताया—हाँ, हाँ; देखो, आगे चलकर जहाँ उँचाई पड़ती है, उसीके बाईं ओर यह बँगला मिलता है। आगे चलकर उँचाई मिली। उस उँचाई में वाम दिशा भी थी। था नहीं तो मित्र महोदय का बँगला। दो तिहाई बातें सही होने पर एक तिहाई के लिए उन महोदय की बुराई नहीं की जा सकती। एक दूसरे महोदय ने पूछने पर बताया—सुनिए, आगे चलकर दाईं ओर के दूसरे मोड का चौथा बँगला उनका है। दूर? अजी, दूर कहाँ; निकट ही है। इनका यह निकट कल्पना का निकट निकला। यह रास्ता एक दम निर्जन है। कोई आने जाने वाला दिखाई नहीं देता, जिसे फिर कष्ट दिया जाय। एक घंटा हुआ, डेढ़ घंटा हुआ, और ये दो पूरे हो गये। वह बँगला अब भी कभी इधर और कभी उधर को आँख-मिचौनी खेल रहा है।

और अब ये बादल झिमिट आये हैं। मुक्तहस्त होकर इन्होंने उदार वर्षा से गिरि-वन को मुखरित कर दिया है। अब एक इस पहाड़ी श्रमिक की सहायता भी ली जाय। पूछने पर मालूम हुआ कि मेरे मित्र को छोटे से लेकर बड़े तक सब कोई जानते हैं। दो आने के लोभ से पन्द्रह-बीस मिनट भींगकर उस बेचारे को भी आशा छोड़ देनी पडी। और दायें-बायें, इधर-उधर का वही पाठ अब फिरसे पढ़ना है। अन्तर इतना ही है कि पहले मित्र महोदय के बँगले तक पहुँचना था और अब पहुँचना है अपने डेरे तक। लोम और विलोम पढ़ी जा सकने वाली कविता की तरह तत्वतः इन दोनो बातो में अन्तर नहीं है।

किसी तरह डेरे पर आ पहुँचा, तब मालूम हुआ कि बहुत थकावट नही आई है। दस-पन्द्रह बरस मे कदाचित् ही कभो इतना परिश्रम कर सका होऊँ। गिरिराज थकान देते तो हैं, पर उसे दूर कर देने में भी उन्हे देर नही लगती।

पानी पड़ता जाता है। ठंडी ठंडी हवा वृक्षो पर अपने कर-स्पर्श से मर्मर-संगीत उत्पन्न करती है। जहाँ तक दृष्टि जाती है, हरियाली ही हरियाली। उन चोटियों ने मस्तक पर मेघो के श्याम-चन्दन का अङ्गराग लगाया है। मेघ और आकाश एक दूसरे के शरीर को छूते है। देखते रहो, बस देखते जाओ। नेत्रों को तृप्ति नही मिलती है।

वृष्टि थम गई है। फिर भी हवा इस तरह सरसराहट के साथ बहती है कि वृष्टि का धोखा हुए विना नहीं रहता। गिरि

और वन कोमल पल्लवों के साथ मानों वृष्टि-संगीत का अभ्यास कर रहे है ।

× × × ×

घूमना नहीं, घामना नहीं । अपनी एकान्त कोठरी में बैठा हूँ । बरसात के कारण कोठरी से निकल ही नही सका । खिडकी खोलकर सामने देख रहा हूँ । सामने वृक्षों की एक ढालू दीवार है । ऊपर एक जगह चलते हुए एक व्यक्ति का सिर मात्र दिखाई देता है । वह भींगता चला जा रहा है । उस जगह टेढी-मेढी गति से जाती हुई किसी सड़क का अनुमान करता हूँ ।

जरा देर में बूँदा-बाँदी, जरा देर में जोर की बरसा और फिर कुछ ही देर में सब कुछ शान्त ।

मेरा भाग्य प्रसन्न नही जान पड़ता । गिरिराज अपनी पुनीत यात्रा का अवसर मुझे नहीं देना चाहते । बरसा के पानी में मेरे पुराने रोग के उभाड़ का भय है । आतिथेय महोदय बताते हैं कि एक विख्यात पुरुष, जो मेरे सहरोगी हैं, कुछ ही दिनो में यहाँ पाँच पौंड बढ़ गये हैं । कदाचित् इसीलिए योगियों ने इस नगाधिराज को अपनी तपोभूमि चुना हो ! भूख-प्यास की व्याधि यहाँ उन्हें बहुत कृश नही करती ।

पर यह नैनीताल इन दिनो योगियो की नही, भोगियो की भूमि है । भोग भी भाग्यवान् को उपलब्ध होता है । मै कैसे उसे पा सकूँगा ?

पानी फिर थम गया है । कमरे के भीतर बैठा-बैठा मैं अपना सामान ठीक कर रहा हूँ । काक-पक्षी बाहर अपने स्वकीय स्वर में कुछ विशेष सन्देश सुना रहे हैं । दूसरे पक्षी भी कल-रव करते हैं, पर उनके नाम, गोत्र और कण्ठ से मेरा परिचय नहीं । काक पाक्षियो को पहचान गया हूँ, इसका कुछ गहरा अर्थ भी लगाया जा सकता है । हाँ यह कुक्कुट भी बोल रहा है । यह बेचारा नहीं जानता कि प्रभात के झुटपुटे तक ही उसे मुखरित रहना चाहिए । दिन में जब कभी दूर से क्षीण होता हुआ उसका स्वर सुनाई देता है, तब जान पड़ता है, जैसे वह करुण-क्रन्दन कर रहा हो ।

दूर दूर से इधर-उधर के आदमियो का अनुभव होता है । एक दूसरे और तीसरे और चौथे के स्वर एक दूसरे में घुल-मिलकर एकाकार हो गये हैं । कमरे के बाहर फेरी वाले आ आकर आवाजें देते हुए रीते हाथ लौट जाते हैं । और लौटना अब मुझे भी है ।

× × × × ×

जीवन में दो ही वार हिमालय के दर्शन का सौभाग्य मिला है । एक वार तब, जब कि यहाँ से सैकड़ो मील दूर अपने कमरे में बैठकर "मंजुघोष" कविता लिख रहा था । और दूसरी वार यहाँ इस समय नैनीताल में । जानकार लोग यही कहेगे कि मैंने एक वार भी दर्शन नहीं किया । उनसे मुझे समझौता करना पड़ेगा । इस वार भले हो मैंने गिरिराज के

दर्शन न किये हो, किन्तु उस वार के सम्बन्ध में प्रश्न तक नहीं उठ सकता। उस कल्पना की वास्तविकता में मैं असंदिग्ध हूँ।

इस वार दर्शन हुए हों या न हुए हो, देवतात्मा का बहुत बडा प्रसाद लेकर यहाँ से उतर रहा हूँ। मेरे मन में घर के लिए उत्सुक-वेदना जाग उठी है। जान पडता है, स्वर्ग-विहार करने वाली आत्माएँ पुण्य के क्षीण होने पर ही अनिच्छा के साथ पृथ्वी पर नही लौटती। पृथ्वी पर भी कुछ ऐसी गरिमा है, कुछ ऐसी स्नेह-माधुरी है, कुछ ऐसा आकर्षण है, जिसके कारण स्वेच्छा से ही उन्हें इसकी गोद में फिर फिर आना पड़ता है। इस आकर्षण को गुरुता से और तीव्रता से और शक्तिमत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं।

सोच रहा हूँ, इस समय वहाँ के उस सुदूर प्रान्त भाग में आकाश मेघो से भरा होगा। यहाँ की तरह मेघ नीचे उतरकर हमारे शरीरों को वहाँ नहीं छूते, परन्तु इस कारण दूर होने पर भी वहाँ वे हमारे अधिक निकट है, अधिकतर मनोमोहक हैं, अधिकतम वाञ्छनीय हैं। वहाँ घन-गम्भीर घोष होता है, वहाँ क्षण क्षण पर बिजली कौंधती है, वहाँ रिम-झिम रिम-झिम बूँदें पड़ती हैं और फिर थोड़ी ही देर मे अखण्ड और प्रबल धारा-पात से छोटे छोटे नाले तक प्रखर प्रवाहिणी का रूप धारण कर लेते है। यहाँ की तरह वृष्टि वहाँ अरुचि नहीं उत्पन्न करती, वितृष्णा से मन को नही भर देती। वहाँ इसके

लिए भीतर और बाहर एक-सी जलन है, एक सी चाह है। इसीसे मेघदूत का विरही यक्ष वहीं के रामगिरि पर अपने दिन काटने के लिए उतरता है। वहाँ के मेघागम में "वर्ष-भोग्य" शाप की शान्ति है। प्रिय विरह-दूत का पुनर्मिलन है। इसीसे इस समय वहाँ घर घर आनन्द छाया हुआ है, घर-घर उत्सव की बाँसुरी वहाँ मेघ-मुरज के ताल पर बज उठी है। वहाँ के आम, वहाँ के जामुन, वहाँ के नीम नई वायु मे चञ्चल होकर दोलायित है। स्त्रियो के मधुर स्वर में सावन का गीत है, पुरुषो की ध्वनि में मलार की तान है। बेतवा अपने दोनो ही कूलो पर आज के नवीन आनन्द में मुखरित हो उठी है। सीधे और टेढ़े कितने ही मार्गों के बीच मे होकर अनेक आवर्त्त-विवर्त्तों मे कही तो फेनोच्छ्वास के द्वारा वह खिल-खिलाती जाती है और कही पर जम्बु वृक्षो के श्यामायमान वनो के मध्य कठिन प्रस्तर शिलाओ से टकराकर अट्टहास करती हुई दौड़ती है। उछलती हुई, कूदती हुई, किस पुलक से भरकर आज उसने अपने किस प्रिय के लिए यह अभिसार किया है! उसका यह उत्कट उत्साह आज वहाँ के गाँव गाँव में, वहाँ के घर घर मे दूर दूर तक फैल गया है। इतनी दूरी पार करके आज उसने अपनी स्मृति यहाँ इस मेरे मन तक पहुँचा दी है। हिमालय की इस यात्रा ने वहाँ की यह आनन्दानुभूति जिस उत्कण्ठा के साथ हृदय में अंकित कर दी है, उसे मै कभी न भूलूँगा। मेरे लिए वह कभी पुरानी न पड़ेगी।

असमय में यह यात्रा की थी, इसलिए हिमालय के श्री-मन्दिर की झलक तो दूर से दिखाई दे गई है, पर उनका रूप-दर्शन मुझे नहीं हुआ। वहाँ के लीला-निकेतन ने अपने पट मेरे लिए नहीं खोले। वहाँ की हिम-गंगा, वहाँ का कुसुम-हास, वहाँ की रंग-बिरंगी परिधान-सज्जा, वहाँ के क्षण क्षण पर परिवर्तित प्रकृति-चित्र, वहाँ के निर्झर-प्रपात, वहाँ की सरिताओं के उद्दाम नृत्य, वहाँ के पलायित प्रवाहों के ग्रीवा-भङ्ग मेरे देखने मे नहीं आये। खिन्न मन से मैं नीचे उतर रहा हूँ।

पाँच सौ फुट नीचे उतर कर इस झील के किनारे खड़ा हो गया हूँ। पीछे की ओर देख लेने के लिए एक बार गर्दन मोड़ कर दृष्टि डाली। इस एक क्षण में, विदा के इस एक क्षण में, यह मेरी दृष्टि कहाँ से कहाँ जा पहुँची है! चारों ओर नीला कुहरा छाया हुआ है। नीलाकाश की नीलम-रज ही यह जैसे यहाँ फैली हो। उसके सौन्दर्य की अनुभूति ही अनुभूति होती है, वाणी उसे छू नहीं सकती। इस नीलपुंज में नैनीताल की उच्च अट्टालिकाएँ अदृश्य हैं। वहाँ कुछ दिखाई नहीं देता। दिखाई नहीं देता, फिर भी यह देख क्या रहा हूँ, अनुभव कर क्या रहा हूँ? किसी एक अट्टालिका की ही एक कोर अस्पष्ट रूप से वहाँ जान पडती है। क्या वही, उसी जगह कही वह "स्रस्तगंगा-दुकूला" अलकापुरी है? वहाँ तक चर्मचक्षुओं की पहुँच नहीं होती, फिर भी वहाँ का कोई अनुपम, कोई अलौकिक, कोई अवर्णनीय चित्रपट एक साथ मेरे आगे खुल पड़ा है। जान पड़ता है, वहाँ

वे वधुएँ हाथ में लीला-कमल लिये हुए है; अलको में उनके बालकुन्द गुँथे है; मुख-मण्डल लोध्र-पुष्प के पराग से रंजित हैं; कर्णों में शिरीष-पुष्प, चूडापाश में नवकुरवक, और सीमन्त में उनके कदम्ब-कुसुम है । "विद्युद्वन्तं ललित वनिता:" आदि में कवि के द्वारा उल्लिखित उन अलौकिक वनिताओं को एक झाँकी इस एक क्षण मे अचानक मुझे उपलब्ध हो गई है । विदा के इस एक क्षण मे न जानें किस अतुलनीय पुलक-भार से मै समाच्छन्न हो उठा हूँ । न जानें वह कैसा है, न जानें वह कितना है, न जानें वह कहाँ का है, उसके सम्बन्ध में मै कुछ कह नही सकता ।

आषाढ़ पूर्णिमा १९९६

कवि की वेश-भूषा

"अमुक कवि गड़रिये जैसी पोशाक क्यो पहनते हैं ?" यह एक समस्या है जो मेरे एक सुहृदय बन्धु सुलझाना चाहते हैं । उन्होने यह मेरे पास चलती करदी है । उन्हींकी मौलिक रचना यह नही है । उन्हें यह एक उच्च राज-पदाधिकारी से प्राप्त हुई है ।

समस्या सुलझाना मै नही जानता । उन अमुक कवि को अवश्य जानता हूँ । मैं जानता हूँ, आप नहीं जानते, इसे आप

मेरा दर्प या दम्भ न समझिए । आपके इस न जानने से आपकी साहित्यकता को, और आपकी रसज्ञता को ठेस न पहुँचेगी । वे कुछ ऐसे ही हैं । उनके कवि होने न होने का मामला अभी तक तय नहीं हुआ है । हो सकता है, साहित्य की अदालत में पहुँचने के पहले सरसरी में ही खारिज होगया हो । मेरे उन बन्धु ने, और उनके भी उन दूसरे बन्धु राजपदाधिकारी महोदय ने उनको कवि कहा है । पर जिस प्रश्न के साथ कहा है, उसमें न कहना ही अधिक मिलेगा । अपनी कमजोरी यहीं स्वीकार लूँ। आगे की झंझट इससे बचेगी । कभी कभी उन समस्याधीन महोदय को स्वयं मैं कवि समझ बैठता हूँ। इसे मेरे बन्धु जानते हैं । इसीसे वह प्रश्न मेरे पास आया है। पर एक बात है। सबके सामने खुले मे उन्हें कवि मैं नही कहूँगा । कह नहीं सकता । फलतः असहयोगी वकील की चेम्बर प्रैक्टिस की तरह मेरा वह एकान्त का कहना न कहने के बराबर है। मेरे इस कृत्य से उनका कवित्व-पक्ष कमजोर पड़ता है, तो पड़ने दो। सिद्धान्त की बात है ।

ऐसे कवि की चर्चा करके किसीका समय नष्ट करने का इरादा मेरा नही। बात यह है कि इस प्रश्न से मेरे मन में एक दूसरा प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। क्यों नहीं कवि को वेश-भूषा अंतिम रूप से निश्चित कर दी जाती है ? न जानें कितने समय से कवि होते आ रहे हैं। और, आज कल जैसा दिखाई देता है, उससे न जाने कब तक कवि होते ही रहेंगे। प्लोटो की

आदर्श राजव्यवस्था स्वयं किसी कवि का स्वप्न है। उसके पूरे होने के लक्षण नहीं हैं। फिर क्यो ऐसी आवश्यक बात पर अभी तक किसीका ध्यान नही गया है? इतने कवि-सम्मेलन होते है, इतनी कवि-गोष्ठियाँ जमती है, इतने साहित्य-संघ खुलते है, पर कहीं किसीने अब तक इस पर सोचा तक नहीं है। सोचना जरूरी था। इससे साहित्य-सम्बन्धी अनेक झगड़े-टंटे आसानी से सुलझ जाते! कितने ही ऐसे-वैसे प्रश्नो को सिर उठाने तक का अवसर न मिलता। वे उच्च पदाधिकारी महोदय उन कवि की बात न सोचकर किसी सार्वजनिक हित को बात सोचते। उनका सचमुच का बहुमूल्य समय नष्ट न होता। मेरे सुहृदय बन्धु के भी चार पैसे और थोड़ा-सा कागज तो बचता ही, उन्हें व्यर्थ ही पत्र लिखने के लिए न बैठना पड़ता। आज कल के समय में पाई पाई की बचत करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है।

सम्राटो की, महाराजों की और राजो को वेश-भूषा बहुत पहले से निश्चित है। दरबारी दूर से पहचाने जा सकते हैं। जस्टिस के सम्बन्ध-में सन्देह तक नही उठता कि ये हैं अथवा वे। वकील के चोगे की बात किसीसे छिपी नही है। डाक्टर हजार आदमियो के बीच में अलग से दिखाई पड जाता है। अदालत का चपरासी, पुलिस का कानिस्टबिल, यहाँ तक कि रेल का कुली भी अपना व्यक्तित्व अलग रखता है। फिर बेचारे कवि ने ही कौन-सा अपराध किया है? क्यो नहीं

उसकी वेश-भूषा का निर्णय कर दिया जाता ? वह भी समाज का एक अंग है। सेठ-साहूकार पहचान लिये जायँ, बाबू लोगों के सम्बन्ध में शंका का उदय तक न हो, फिर कारण क्या है, जो कवि ही अकेला अँधेरे में ठोकरें खाता फिरे ?

कवि की यह उपेक्षा अपराध की श्रेणी में आती है। इसका निराकरण होना चाहिए। वेश-भूषा निर्णीत होने पर धूर्त और जालिये लोग उसका दुरुपयोग कर सकते हैं। पर ऐसे लोगों से डरकर एक सत्कर्म से हाथ खींच लिया जाय, तो यह भीरुता होगी।

पर वह वेश-भूषा हो कैसी ? अच्छा हो, इस प्रश्न की एक समस्या व्रज-भाषा और खड़ी बोली दोनों में ही किसी योग्य कवि के मुंशी से रचवाकर कवि-सम्मेलन के सभी संयोजकों के पास भिजवा दी जाय। पूर्ति के लिए वे उसका यथोचित वितरण कर देंगे। कवि-सम्मेलनों की अधिकांश समस्याओं से यह उत्कृष्ट पड़ सकती है। कवि की वेश-भूषा के निर्णय में कवियों को भी अपनी सम्मति देने का अधिकार होना चाहिए। प्रजातन्त्र के आधारभूत सिद्धान्त के अनुसार यह उचित भी है। केवल एक तर्क इसके विरुद्ध पड़ता है। मुलजिम को अपने भाग्य-निर्णय का अधिकार नहीं दिया जाता। कवि निरंकुशता के अपराधी हैं। इसकी स्वयं-स्वीकृति उन्हींके श्रीमुखों द्वारा बार बार और फिर फिर होती है। अच्छी बात है, बाहरी लोग ही तब इस विषय में विचार-विमर्ष करें।

मैं अपने हिस्से का काम निबटा दूँ। मेरा एक सुझाव है कि कवि के परिच्छद मे बढ़िया चीनांशुक अनिवार्य रूप से हो।

चीनांशुक ही क्यों? इसलिए कि यह शब्द ऐसे लोगो के मन में आदर का, महत्ता का, बहुमूल्यता का भाव भर देगा, जो इसका अर्थ तक न जानते हो। अर्थ न समझते हुए हम किसी कविता की जितनी प्रशंसा करते है, उतनी उसे समझकर नहीं करते। समुद्र की अज्ञात अगम्यता ही उसके सम्बन्ध में हमारी श्रद्धा बढ़ाती है। जिस नाले में अपने भीतर का छिपाने का कुछ न हो, उसे तो सब लोग रोंदते हुए ही जायँगे। और इसलिए कि कालिदास ने भी चीनांशुक का उल्लेख अपनी रचना मे किया है। चीन का बढ़िया रेशम उनके समय में पताका जैसी उच्च और पवित्र वस्तु में व्यवहृत होता था। वह उन्हें प्रिय था, इसलिए यह हो नहीं सकता कि उनके परिधान में उसे स्थान न मिला हो। और इसलिए भी कि जवाहरलाल जैसे पुरुष इस पक्ष में हैं कि चीन के साथ अपना प्राचीन सांस्कृतिक सम्बन्ध और भी सुदृढ़ हो। वह इस तरह होता है। अतएव कवि और राजनीतिक दोनो का समर्थन चीनांशुक को मिलता है। हृदय और बुद्धि, प्रेम और हित, पुरातन और आधुनिक, सबके सब इसके पक्ष में हैं।

फिर भी कवियो की सहमति आवश्यक है। तुलसीदास मना लिये जायँगे। कहता जो हूँ। जिम्मेदारी लेकर। चलूँ उनके पास?

देखिए, वह यहीं जमुना किनारे मिल गये। कुछ गुन-गुनाते चले आते हैं। सुनाई पड़ता है—

"कवि न होउँ, नहिं चतुर कहाऊँ,
मति अनुरूप रामगुन गाऊँ।"

'कवि न होउँ'—तब क्या बाबा मेरे मन की बात पहले ही जान गये हैं? दूर से, मुझे विना देखे?

"बाबा, दण्डवत्!"

"रामजी मङ्गल करें। सीताराम के चरणों में अविचल भक्ति हो।"

"बाबा, यह कोपीन पुराना पड गया है। इसे बदल दो। यह दूसरा वस्त्र लाया हूँ।"

"भला तो है। नये जैसा ही। बहुत दिन चलेगा।"

"तुम क्या जानों कि भला है या कैसा। बाबा, तुम सकल कला, सब विद्याहीन जो ठहरे।"

"ठीक कहते हो बच्चेराम, ठीक कहते हो। मेरी मति थोरी है। मैं प्रसिद्ध पातकी, मैं अधम; सियावर के चरणों में ही मेरा तरन-तारन है।"

"हँसी की बात में इस तरह कहोगे, तो हमारी लड़ाई हो जायगी। बात सुनो बाबा! तुम्हें कुछ देने नही आया हूँ। आया हूँ स्वार्थ-जनित प्रीति लेकर। यह मुझे तुम्हारे इस कोपीन पर लोभ हो आया है। मुझे दे दो। अपने बाल-बच्चो के लिए इसे वसीयत में छोड़ जाऊँगा। इसके धन से वे

लखपती हो जायँगे। बदले में यह चीनांशुक पहन लो। यह श्री अवध-सरयू के रास्ते सीधे वहीं से आया है। इसे कालिदास धारण करते थे।"

"कालिदास का अच्छा स्मरण किया बच्चाराम। धन्य है, वे धन्य है; सच्चे कवि-कुल-गुरु है। श्री अवधपुरी को जीर्ण दशा देखकर उन्हीकी आँख से आँसू झरे है। परम भागवत हैं। धन्य, उनका क्या कहना है!"

और बाबा की आँख से स्वयं आँसू झरते हैं, उन्हे सुधि-भूल हो जाती है। ऐसी दशा मे यहाँ दो चार बातो के बाद ही कार्य-सिद्धि की पूरी आशा है। इनकी सुध-बुध भुलाकर कुछ भी इनसे करा लेना कठिन नही।

और सूरदास? वहाँ भी निराशा का कोई कारण नही। उन्हें जो दे दिया जाय, उसीको पहन लेंगे। देखेंगे कुछ थोड़े। समझ जरूर जायँगे कि किसी तरह का धोखा हुआ है। पर डर की बात नही, धोखादेही का मामला किसी पर नही चलायँगे। जब इन्हीसे डरना पड़ा, तो दूसरे लोग बनाये किस लिए गये है?

बाबा केशवदास चीनांशुक देखते ही रीझ जायँगे। उसकी मुलामियत, उसकी बारीकी, उसका मनोमोहक और रुचिर रंग, कम से कम एक बार तो उनकी ओर कितने ही प्रशंसामुग्ध मृगलोचनों को सहज ही आकर्षित कर लेगा। इसके आगे दूसरे कवियो की समस्या जटिल नही जान पड़ती।

हरिश्चन्द्र को उससे अरुचि न होगी। "रत्नाकर" उसे पसन्द करेंगे। "प्रसाद" प्राचीनता के नाते उसे अपनाये विना नहीं रह सकते। इस तरह सब कहीं सफलता के लक्षण दिखाई देते है। पन्त, निराला, महादेवी—सभी के पास। बात यह है, जिनमें बड़प्पन होता है, वे दूसरे को निराश करना नहीं जानते।

हाँ, एक बात अभी याद आई। कवि स्त्रियाँ भी होती है। पुरुष और स्त्री कवि एक-सी वेश-भूषा कैसे धारण करेंगे? यह एक कठिनाई है। ऐसा कुछ समझौता करना पड़ेगा कि आधा परिधान पुरुष स्त्री का चुन ले और आधा स्त्री पुरुष का। ऐसा करना ही पड़ेगा। पहले जमाने में यह समस्या इस रूप मे जटिल न थी। उस समय कवियो में स्त्रियाँ दिखाई तो देती हैं, पर बहुत नहीं। कवि होने की अपेक्षा कविता का विषय होना ही उन्हें अधिक रुचिकर था। इसीसे कवि शब्द का स्त्री लिंग मुझे एक विख्यात कोष तक में नहीं मिला। कवयित्री शब्द, जान पड़ता है, आज की आवश्यकता की ही पूर्ति है। आज की आवश्यकता के अनुसार ही कवि की वेश-भूषा का निर्द्धारण करना पड़ेगा।

तब दूसरा सुझाव मेरा यह है कि कवि के लिए स्त्री-जैसा कच-कलाप अनिवार्य हो। इस पर अपने पूर्णाधिकार से वंचित होकर स्त्रियाँ इस बात से रूठेंगी नहीं। 'बढ़त देख निज गोत' की नीति से उनकी अँखियाँ सुखी ही होंगी। इस बात में

पुरुष के लिए कुछ बाधा भी नहीं है । आशा है, वे इसे मान लेंगे। सौदा पटाने के मिष, अर्थात् इस प्रस्ताव में कुछ कॉट-छाँट करने के लिए अपनी अँखियो के भी सुखी करने की बात उठा कर, यह आग्रह न करेंगे कि स्त्री कवि के लिए दाढ़ी और मूँछ अनिवार्य हो । यह भद्दी और अनुचित माँग होगी। किसीकी वाजिब माँग पर ही विचार किया जा सकता है ।

तीसरा सुझाव यह है—

पर अब और नहीं । दूसरो को भी अपने विचार प्रकट करने का मौका मिलना चाहिए। और उन भले मानुस से पूछ कर भी देखना है कि वे किस करवट बैठते है ।

निराशा गहरी होकर खटकती है वहाँ पर, जहाँ के लिए निश्चिन्तता हो । करूँ क्या इस आदमी का ? पहले ही प्रस्ताव पर सहमत नही है । कहता है—'कवि न होउँ, नहिं चतुर कहावों' । कवि नहीं होना चाहता है, तो कहता कौन है, मत बन । अरे आदमी तो बन, आदमी ! हॉ, क्या कहता है, मै भी सुन लूँ ।

यह कहता है—आदमी ? आदमी क्या वह गड़रिया नहीं है ? नहीं है, तब नहीं चाहिए मुझे दूसरे का यह आदमीपन । नही चाहिए दूसरे का यह कविपन । नहीं चाहिए, किसी तरह नही चाहिए, दूसरे का वह आदर, वह प्रतिष्ठा, वह सम्मान । जो हूॅ, मै वही हूँ । न उससे रत्ती भर कम और न रत्ती भर बढ़ । चीनांशुक में लपेट कर कोई किसे कवि

बनायगा ? शरीर तक ही इसकी पहुँच है। उसके आगे तनिक भी गति नहीं। शरीर में कवि होता, तो पहलवान लोग कभी का उसे लूट लेते। साज-सज्जा में होता, तो सिनेमा की नारियाँ कभी की उसे चिरवन्दी वना बैठतीं। कवि वहाँ है, जहाँ शरीर की सीमा छूट जाती है। कौन वहाँ यह चीनांशुक ले जायगा ? क्या वोली को यह पहनाया जा सकेगा ? किसीकी वाणी को कवि की वाणी कर देने का सामर्थ्य इसमें नही है। इसमें यह विशेपता नहीं है कि किसीमें कवि को भी जगमगा दे। जहाँ वह नहीं हैं, वहाँ वह इन उपचारों से किस तरह आयगा ? नहीं, इसे धारण करने की हैसियत मेरी नहीं है। जो भाग्यशाली हैं, उन्हींके शरीर पर यह सोहेगा। दूसरे के पास जाकर तो अपने मूल्य से गिरकर असाधारण से साधारण रह जायगा। इसे पहनकर उन उच्च पदाधिकारी से भेट करता, तो वे मेरे ऊपर जालसाजी का मामला चला सकते थे। मेरे कवि की छाप इस प्रकार उन पर रत्ती भर भी नहीं पड़ती। मेरे भीतर का गड़रिया मेरी वाणी में वेसुरे गले से मौके बे-मौके बोल उठता। हो सकता है, वे धोखा खा जाते। परन्तु कब तक ? भेद खुलता ही, वात प्रकट होती ही, रहस्य प्रकट हुए विना रहता ही नहीं। उस स्थिति मे निरन्तर भय और सन्देह के वातावरण मे मुझे रहना पड़ता। किन्तु अब वात दूसरी है। सन्देह और भ्रम में आकर वे उच्च पदाधिकारी महोदय ही अपने आपसे पूछते हैं कि वह जो गड़रिये जैसी

पोशाक में मिला था, कवि तो न था ? इस द्विविधा में ही मेरी जीत है !

और इस सम्बन्ध मे यही इसकी तर्क है ।

क्या करूँ ? बात मन में बैठती तो है । कवि बनने का ही इसका यह ढंग प्रतीत होता है । ऐसा है, तब आसानी से मैं स्वयं वह गड़रिया बन सकता हूँ । इस परिवर्तन से मैं घाटे में न रहूँगा और न इसमे मेरे लिए लज्जा और संकोच की बात है ।

भाद्र शुक्ल १९९६

उसकी बोली

रात में गड़रिये के बालक को कुछ बोलने की इच्छा होती और वह चिल्ला चिल्ला कर कहता—वह नहीं आया, वह नहीं आया !

उस सन्नाटे में दूर दूर तक वह आवाज दौड़ जाती लोग सुनते और ताज्जुब में पड़ जाते । बात उनकी समझ में आकर भी नहीं आती । कुछ अल्हड़ व्यक्ति वहाँ के लिए उसी समय चल भी पड़ते ।

और वहाँ पहुँच कर भय से, आश्चर्य से, आतंक से वे लोग देखते कि वहाँ वह आया हुआ है !

लोग गडरिये के बालक से कहते—तुम झूठे हो !

बालक के आश्चर्य का ठिकाना नही रहता। ऐसी विचित्र बात उसके लिए एक दम नई होती। किसी तरह उत्तर देता—यही तो मैंने कहा था—वह नहीं आया है। और तुम उसे सामने देख सकते हो, वह नहीं आया है ! इसमें मैंने झूठ क्या कहा ?

रात के बाद रात आकर इस तरह महीने के महीने निकल जाते। महीनो की परिणति बरसो में होती। लोग खेत पर उस बालक के पास फिर फिर पहुँचते। वहाँ पहुँचने में उस भारी कठिनाई का सामना होने पर भी उन्हें गड़रिये के बालक से यह कहने में रस मिलता कि तुम झूठे हो !

और बहुत बड़े समय के बाद एक रात खेत पर से ऐसी आवाज सुनाई देती—वह आया है, अरे क्या करूँ, वह आया है !

लोगों की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। आपस में एक दूसरे से कहते—इतने दिनों में, देखो, हमारी शिक्षा सफल हुई। बालक ने सचाई सीख ली है !

और लोग हँसते हँसते फिर खेत पर जा पहुँचते है। देखते है, वह वहाँ नही आया; एक दम वहाँ सुनसान है। बीच बीच में गड़रिये क बालक की ही आवाज दूर दूर तक फैलती है—वह आया है; अरे, क्या करूँ, वह आया है !

लोग छुटकारे की-सी साँस लेते हैं कि उन्हें उसके प्रत्यक्ष

आगमन का सामना नहीं करना पड़ा; किन्तु तिस पर भी क्रोध से अधीर होकर वे चिल्ला पड़ते हैं—अरे, अब भी, इतना दुःख उठाकर भी, तेरी आदत छूटी नहीं है। अच्छा, ठहर, देखते हैं तुझे!

और धमाके की मार-पीट में रोता रोता बालक घबराकर कहता है—अरे, मेरी बोली तो समझो! मैंने यह कब कहा है कि वह नहीं आया? मैंने कहा था—वह आया है।

बात एक दम सच भी और एक दम झूठ भी! सच और झूठ के बीच में गड़रिये का बालक पिटता है। प्रति दिन, प्रति मास, प्रति वर्ष और युग में और प्रत्येक युग में बोलने के परिणाम स्वरूप रोता रोता वह कहता है—अरे मैं झूठ नहीं कहता; मेरी बोली तो समझो!

कार्तिक शुक्ल १९९६

नया संस्कार

अपने झंडा-गीत में मुझे कहीं कुछ संस्कार करना था, जब वह लिख लिया गया, उसी समय यह बात जी में थी, लिख लेने की प्रसन्नता में ही कदाचित् उस समय इस ओर ध्यान नहीं गया। बात ऐसी हुई, जैसे प्रभात की जगमगाहट मे यह बात भूल गई हो कि रात की आकस्मिक अनिद्रा कुछ खुमारी भी कहीं छोड़ गई है।

बीमारी के लम्बे दौरे में बहुत दिनों बाद किसी तरह उस काम के लिए अवसर मिल सका। इस तरह एक दिन गीत का नया संस्कार तो हुआ, किन्तु उसी दिन अचानक देखने मे यह आया कि "सर्वोदय" में वह अपने पूर्व रूप में ही प्रकाशित हो चुका है।

ऐसे में क्या उचित यह होगा कि इसका यह नया संस्करण छिपाकर रख छोड़ा जाय ? ऐसा करने से लेखक की रचना-शक्ति के दुर्बल अंश पर परदा पडा रह सकता है। बहुत नहीं, थोडा-सा। क्योंकि ऐसे दूरद्रष्टा भी मिलते हैं, जिनकी दृष्टि परदे को भेद कर भीतर तक चली जाती है।

बड़े बड़े कवियो के सम्बन्ध मे सुना है कि उनकी रचनाएँ पहली वार में ही परिपूर्ण होकर प्रकट होती हैं। जो कुछ इन्हें कहना होता है, पहली वार मे ही ये उसे कह डालती हैं। उनमें संशोधन-परिशोधन के लिए कुछ नही होता। इन रचनाओ की तुलना उन महती आत्माओ के साथ की जा सकती है, जिन्हें वार वार का परिभ्रमण संसार में नहीं करना पड़ता। केवल एक वार जन्म लिया और सदा के लिए ये अमर हुई। ये सबके लिए वन्दनीय है।

परन्तु जिनका सौभाग्य उतना ऊँचा नहीं है, क्या उनके प्रति अवज्ञा की ही दृष्टि से देखा जायगा ? सब जानते हैं कि वैसी महती आत्माएँ और वैसी महती रचनाएँ संसार में अधिक नही होतीं। भूली-भटकी ही ये कभी कभी यहाँ आ पहुँचती हैं। यह लोक हम्ही

जैसे सर्व-साधारण के लिए है। हम लोग उन बड़ो की क्षमता का अन्धा अनुसरण करेंगे तो हमें वह भी गँवाना होगा, जो कुछ हमारे पास है। बड़ों का बड़प्पन इस बात में कि वे अपने आपमें पहली ही बार परिपूर्ण है। परन्तु हमारी विशेषता कुछ दूसरी है। हम चूक सकते हैं और चूकते हैं। इसमे हमारे लिए डरने की बात नही है। क्योंकि जहाँ हम चूकते हैं, वहाॅ उस चूक के परिमार्जन का उपाय भी हमारे पास है। हम-जैसे जहाॅ अपना संस्कार करते हैं और आवश्यक होने पर पुनर्संस्कार करते हैं, वहीं हमें अपने छोटेपन पर लज्जा करने की बात नहीं रहती।

ऐसा भी नहीं है कि बड़ो को अपना संस्कार नहीं करना पड़ता। करना उन्हे भी पड़ता है। परन्तु उनका यह कार्य प्रायः हमारे अगोचर में होता है। जान पड़ता है, इस सम्बन्ध की हमारी हीनता को दूर करने के लिए ही भगवान् बुद्ध ने अपने पूर्वजन्मों की बात सबके सामने प्रकट की थी। बुद्धत्व प्राप्त करने के पहले कितने ही बोधिसत्वों के रूप में उनके विचरण की कथा जातक ग्रन्थो में पाई जाती है। एक बार में ही बिना किसी कमी के परिपूर्ण होने मे अलौकिकता हो सकती है, परन्तु मानवता नही।

अतएव मुझे अपने उस गीत के नये संस्करण को प्रकाशन के लिए देकर न तो संकोच का और न लज्जा का ही कारण दिखाई देता है। मेरा कहना यह नहीं कि अब यह वैसा

हो गया है, जैसा इसे होना उचित था। आवश्यक होने पर आगे भी इसे अपने संस्कार का ध्यान रखना है।

एक बात और। लोगो को अपने पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहती। परन्तु कहीं कहीं ऐसे व्यक्ति दिखाई दे जाते हैं, जिन्हें अपने पिछले जन्म की बात नहीं भूलती। उनकी चेतना में वह कहीं पक्की स्याही से लिखी होती है। ऐसे जन के प्रति हमारा औत्सुक्य कम नहीं होता। मेरे उस गीत में उसके पिछले रूप की स्मृति अमिट है। इस कारण उसके प्रकाशन में जो कौतूहल है, वह भी क्या थोड़ा।

मार्गशीर्ष कृष्ण १९९६

पुनश्च—

पूज्य काका कालेलकर इस प्रसंग में एक बात नई सुझाते हैं। "अभिज्ञान शाकुन्तल" में राजा दुष्यन्त अपने बनाये हुए शकुन्तला के चित्र के विषय में स्वयं कहते हैं—

"यद्यत्साधु न चित्रे स्यात्क्रियते तत्तदन्यथा"

जहाँ जहाँ ठीक चित्रण नहीं हुआ था, वहाँ वहाँ वह फिर से अन्य प्रकार किया गया है। काका का अनुमान है, यहाँ दुष्यन्त के द्वारा कालिदास ने अपनी काव्यकला का अनुभव ही ध्वनित किया है। बात ठीक जान पड़ती है, फिर भी यदि इसी रूप में इसे न मानें, तब भी यह उदाहरण कम उत्साह-वर्द्धक नहीं है। कालिदास की अद्भुत और अनुपम कृति के

नायक जो काम कर सकते हैं और जिसे वे छिपाना भी नहीं चाहते, उसमें किसी दूसरे के लिए भी संकोच नहीं है। दुष्यन्त के कथन का उत्तरार्द्ध तो और भी ध्यान देने योग्य है—

"तथापि तस्या लावण्यं रेखया किंचिदन्वितम्।"

झूठ-सच

तीसरे खण्ड के कमरे में सामने की खिडकी खोलकर लिखने बैठता हूँ। कुछ दूर एक घर की छत पर कई दिन से एक दीवार उठ रही है। वहाँ एक राज है और एक मजूर स्त्री। इस जगह से दोनो काम करते दिखाई देते है। कभी कभी एक तीसरा आदमी दिखाई पड़ता है,—मकान-मालिक। रंग-ढंग से मालूम होता है, वह काम को देख-भाल कर जाता है।

राज कन्नी लेकर ईंटें छाँटता है और स्त्री चूना-गारा तसले में लाती है। ठीक नही देख सकता कि ऐसा ही होता है। पर इसके अलावा और हो क्या सकता है।

न तो राज को सूरत ठीक-से देख सकता हूँ और न उस स्त्री की। कपड़े दोनो के साफ दिखाई देते हैं। राज का कपड़ा उजला है और स्त्री की धोती नीली। यह धोती मानो किसीने दो चार दिन पहले ही उसे खरीद कर दी हो। वे सफेद और उजले रंग धूप मे चमकते है। सोचता हूँ, दोनों युवक और

युवती हैं। इतना ही नहीं, मैं और भी बहुत कुछ सोचता हूँ। क्या आप अनुमान नहीं कर सकते कि वह क्या है? जो मैं सोचूँगा, वही आप सोचेंगे। इस समय वहाँ उस छत पर उन दो को छोड़कर और कोई नही है। ऐसे मे वे क्या बातें करते हैं, उन्हें मैं अनुमान से ही सवा सोलह आने तक सही सही बता दूँगा। अनुमान हमारे कान का 'दूरबीन' है। वरन् दूरबीन से भी कुछ अधिक। क्योंकि विज्ञान-वेत्ता सब तरह के छोटे बडे दूर-वीक्षण यन्त्र तो बाजार मे सुलभ कर सके हैं, पर चाहे जहाँ की बात सुना दे सकने वाले स्वतन्त्र श्रुतियन्त्र अब तक हमें नहीं दे सके। फिर भी मेरा काम रुकता नहीं है। यहीं बैठा बैठा मैं उन युवक और युवती की बात सुनता हूँ।

क्या विश्वास नही होता? मेरा अविश्वास करोगे तो संसार में न जानें कौन कौन अविश्वसनीय हो उठेंगे। एक युवक है, दूसरी युवती। जानने की बात इतनी ही तो थी। इतना जानकर ही न जानें कितनी रचनाएँ ऐसी रची जा चुकी हैं कि जिन्हें पढ़ने के लिए ही जन्मान्तरों तक मुक्ति की कामना स्थगित रक्खी जा सकती है! इन सबको असत्य कैसे कहेंगे? उनको नही कहता, जिन्हे यह जगत ही माया-मरीचिका जान पड़ता है। दार्शनिक होकर उन्होंने असत्य का ही दर्शन किया है। महत् वही होंगे, जिन्हे काव्य, नाटक, उपन्यास और कहानी तक में सत्य की उपलब्धि हो सके। अतएव जो मैं उन

युवक और युवती की बातें यहाँ से सुन रहा हूँ, इसमें किसी तरह का सन्देह न किया जायगा। किया जायगा तो उसके छींटे बहुतो को कलंकित कर देंगे।

× × × ×

देखो, वहाँ उस छत पर वह पतिया जोर से हँस पड़ी है !

वह साधारण मजूर है। परन्तु जब लेखक किसीके प्रति आकर्षित होता है, तब यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती कि सुन्दरी भी वह है। दिन मे ही उसको हँसी से वहाँ चाँदनी-सी छिटक गई है।

राज कहता है—देख पत्तो, इस तरह मत हँसा कर। यह हँसी बहुत बुरी है।

पतिया कहती है—बुरी है तो आँखें बन्द कर लो।

"तेरे पास होने से ही आँख और कान न जाने कहाँ चले जाते है। जी अपने आप मे नही रहता। मन कहता है, कहीं बहुत दूर भाग चलें।"

"तुम्हें रोकता कौन है ? भाग जाओ, घर से उन्हें साथ लेकर।"

"किसे,—घर के उस कोयले को ? बचने दे; कही से कोई चिनगारी आ गिरी तो उसके साथ वहीं के वहीं 'सती' हो जाऊँगा !"

पतिया फिर से हँस पड़ती है। राज कहता है—फिर

उसी तरह हँसती है ! रुक जा । नीचे मालिक आ गये हैं । सुन लिया; तो एक दम काले पानी की सजा बोल देंगे ।

"मेरा मालिक कोई नहीं है ।"

नीचे से आवाज आती है—"क्या हो रहा है यह ? सब देख रहा हूँ । आज की मजूरी न दी जायगी ।"

जानता हूँ, हजारीलाल की आवाज है । यह छत उन्हींकी है । ये उन लोगो में, से हैं, जो अपने को सर्वज्ञ समझते हैं । बात करते हैं, तो उसे पूरी ही नहीं होने देते । जानते हैं, भगवान ने जीभ उन्हींको दी है, और सबको केवल कान दिये हैं ।

पतिया और राज एक दूसरे को देखकर आँखो ही आँखो में मुसकराये । इसके बाद राज ने कन्नी हाथ मे लेकर ईंट पर ठोकर दी और मूँज की बनी कुँड़ई सिर पर रखकर पतिया ने तसला अपनी ओर खींचा ।

धीमे स्वर मे राज ने कहा—तेरे मालिक नहीं है ? कोई तो होगा । बता, कौन है ?

अब नीचे सीढ़ियो परे किसीके चढ़ने का शब्द सुनाई दिया । पतिया ने कुछ न कहकर तसले में चिपका हुआ चूना खुरचा और उसे राज के ऊपर छिड़कती हुई झट-से नीचे उतर गई । राज के मुख पर सन्तोष को रेखा दिखाई दी । पतिया के उस व्यवहार में अपने प्रश्न का एक उत्तर उसने पा लिया था ।

थोड़ी देर बाद जिस समय हजारीलाल ऊपर आकर

खड़े हुए, उस समय राज अपने काम में इस तरह जुटा था कि उनकी ओर देखने तक का अवसर उसे नहीं मिला। पतिया सिर से चूने का तसला उतार रही थी। उसे राज के आगे रखकर उसने सिर का वस्त्र सँभाल लिया।

हजारीलाल ने कुछ काम न होने की शिकायत तो की, पर उस शिकायत मे वल न था। जैसे यह जाविते की काररवाई हुई हो। असल मे काम-काज देखने वह नही आये थे। कुछ और ही देख जाने का उद्देश्य उनका था। वह सम्भवतः पूरा नहीं हुआ है। उन्होंने राज मे कुछ काम की और कुछ विना काम की वातें कीं, कुछ देर तक यों ही खड़े भी रहे। अन्त मे लाचार होकर जव नीचे उतरने लगे, तव उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि अवकी वार "चलि औचक चुपचाप" यहाँ का काम देखा जायगा।

हजारीलाल नीचे उतरे और पतिया की वही हँसी फिर वहाँ छिटक पड़ी।

साँझ हो आई है। काम वन्द करके वे दोनो छत से उतर रहे हैं। मुझे भी अव अपनी खिड़की वन्द करनी पड़ेगी।

× × × ×

घूमते समय हजारीलाल से भेट हो गई थी। उनसे भी मालूम हुआ कि उनकी छत पर कुछ काम लगा है। कुछ झूठ थोड़े कहा गया था। मालूम हुआ, राज का नाम है काशीराम। हाँ, पतिया का नाम रधिया निकला। इससे वहुत

अन्तर नहीं पड़ता। मैं पतिया ही कहूँगा। कोई कवि हों, तो वह भी विना छन्दोभङ्ग के ऐसा ही कर सकते हैं।

विशेष बात मैंने उनसे नहीं की। यह ठीक नहीं जान पड़ता कि अपनी बातों की सचाई का प्रमाण-पत्र उनसे चाहा जाय। मेरे कहने से ही कोई बात झूठ और हजारीलाल के कहने से ही सच-सच, यह हो कैसे सकता है।

लिखने के कमरे की खिड़की मैंने बन्द कर रक्खी है, काशीराम और पतिया उस छत पर से चले गये हैं, तब भी मेरा निज का काम रुकना नहीं चाहता। न जानें नये नये कितने रूपों में वे दोनों मेरे सामने उपस्थित हो रहे हैं। प्रयत्न करता हूँ, पर नींद नहीं आती। आँखें बन्द कर लेने पर वे और भी स्पष्ट हो उठते हैं। अँधेरा है, सुनसान है, सब ओर सन्नाटा है; तब भी कवि सूर की भाँति रूप और दृश्य का यह नया सागर-सा मेरे चारों ओर उमड़ उठा है! मेरे मस्तक में गरमी है। विश्राम नहीं मिलने पाता। सोचता हूँ, इससे बचने का उपाय ही क्या? लेखक बनना है, तो यह सब मुसीबत भी झेलनी होगी। बहुत रात गये किसी तरह नींद आती भी है, किन्तु ये काशीराम और पतिया मेरा साथ नहीं छोड़ते।

जा पहुँचा हूँ पतिया के घर। छोटी-सी झोपड़ी है। गली में गन्दगी इतनी कि उस तक पहुँचना भी दूभर हो उठा। घरों के नाबदान गली में पसरकर खुली वायु का सेवन करते हैं। किसी तरह कर्म-कौशल से ही इस झोपड़ी के भीतर पहुँच सका

हूॅ। इसीमें वह सुन्दरी रहती है । बहुत विस्मय नहीं हुआ। कमल और कीच की बात बहुत सुन रक्खी थी । दोनो के निकट सम्बन्ध का प्रमाण प्रत्यक्ष में यहीं दिखाई दिया ।

एक कोठरी मे पतिया की माॅ खाट पर पड़ी है। हाल में ही वह बहुत बड़ी बीमारी भोग चुकी थी। कमजोरी अब भी इतनी है कि चल-फिर नही सकती। उसकी आँखो में नीद न थी। खटिया पर लेटे लेटे उसने पुकारा—पतिया! पतिया दूसरे घर मे कुछ कर रही थी। वहीं से उसने कहा—चिल्लाती क्यो हो, आती तो हूँ।

थोड़ी देर बाद आकर वह माँ के सिरहाने खड़ी हो गई। बोली—अभी अभी चिल्ला रही थीं, जैसे घर मे आग लग गई हो। अब मुखारबिन्द क्यो नही खुलता ?

"कुछ नही। कहती थी, गरमी बहुत है, खुले मे लिटा दे तो"—

"क्यो नही। खस की टट्टियाॅ लगा दूँगी, दो चार नौकर बुलवाकर रातभर पङ्खा डुलवाऊँगी। नहीं तो सोओगी किस तरह ?"—कहकर पतिया भन्नाती हुई वहाँ से चली गई। माॅ ने ओठो ही ओठों में न जाने क्या कहा, कुछ समझ नहीं पड़ा।

धीमे से किवाड़ खुलने की आवाज आई। माँ ने पूछा—कौन है ?

"मै काशीराम।"

आकर वह खड़ा हो गया। इतनी रात गये उसका आना

नया न था। माँ की बीमारी में इधर वह रात रात भर रह चुका है।

माँ बोली—आओ बेटा, आओ। अरी ओ पतिया, सुन री! काशीराम आया है। कहाँ गई है, एक बोरा तो बिछा जा।

पतिया ने जैसे सुना ही नहीं। माँ बड़बड़ाने लगी—ऐसे कुलच्छन हैं इसके। इसीसे इसके भाग फूटे हैं बेटा।

थोड़ी देर में पतिया ने आकर कहा—चिल्लाकर क्यों मुहल्ले में डोंड़ी पीटती हो? आये हैं, तो कोई बुलाने गया था? हमारे यहाँ बैठने के लिए मेज-कुरसी नहीं है। बड़े भारी राजा-नव्वाब तो है, जो जमीन पर नहीं बैठ सकते।

काशीराम को बुरा नहीं लगा। वरन् जान पड़ा, जैसे वह प्रसन्न ही हुआ हो। बैठ वह पहले ही चुका था। उसने माँ की तबियत का हाल पूछा, बहुत जल्द अच्छे हो जाने की सान्त्वना दी और इधर-उधर की दूसरी बातें चलाईं।

पतिया वहाँ से चली गई थी। माँ ने शिकायत की—क्या कहूँ बेटा, यह कलमुँही मरती भी नहीं है।

"चाँद के-से टुकड़े को कलमुँही कहती हो माँ?"

"एक बार नहीं, हजार बार। इसीसे तो इसके भाग फूटे हैं।"

"कलमुँही देखनी हो, तो मैं तुम्हारी बहू को यहाँ लाऊँ।"

"उसकी क्या कहते हो बेटा, वह देवता है। ऐसी बहू सबको नहीं मिलती।"

"मिलती तो नहीं है। जिसने पाप किये होते हैं, उसीको मिलती है।"—कहकर काशीराम अपने आप हँस पडा।

जाते समय अकेले में काशीराम का पतिया से सामना हो गया। धीरे से हँसकर बोली—देवता के पास जा रहे हो? खूब अच्छी तरह पूजा-आरती करना।

पतिया की मुसकराहट अँधेरे में नक्षत्र की तरह झिलमिला उठी। इसके बाद दोनो ही एक साथ अदृश्य हो गये।

रात गहरी होने के साथ साथ सब ओर सन्नाटा फैलता गया। बीच बीच में माँ की बकझक सुनाई पड़ती थी—अरी कहाँ गई री। इतने सबेरे सबेरे सो गई, पीने के लिए पानी तो रख जाती। प्यास के मारे गला घुँटा जाता है। अरी ओ, सुन तो!

किसीने नहीं सुना, कोई उसके पास नहीं आया।

× × × ×

उठ कर जिस समय खटिया पर बैठा बैठा आँखें मलता हूँ, उस समय उजली धूप छत पर फैली हुई है। रात को गायब हुए काशीराम और पतिया, दोनो ही, अपने स्थान पर कभी के काम-काज में जुटे हैं।

देखता हूँ, नई कृति की सामग्री मिलती ही जा रही है। स्वप्न में भी और जागृति में भी। दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। ऐसे लोग हो सकते हैं, जो जागृति की बात तो मानेंगे, किन्तु स्वप्न को अस्वीकार कर देंगे। यह विचार ऐसा है कि दिन को

तो मान लिया जाय और रात के लिए कहा जाय, यह असत्य है ! एक सत्य है, तो दूसरे को भी वैसा ही कहना पड़ेगा।

वहाँ वे दोनो, काशीराम और पतिया, ईंट, चूना और गारे के साथ जूझते हैं, और इधर मैं उन्हें बहुत दूर एकान्त में ले पहुँचा हूँ। साधारण जन उन्हें उसी जगह देखते हैं। उनमें लेखक की अन्तर्दृष्टि कहाँ ? जहाँ छत पर वे दिखाई देते हैं, सचमुच में वहाँ से वे ला-पता हैं। कोई जानता नहीं है कि गये कहाँ हैं। उस छत का काम कई दिन से रुका है। इस बीच मे उन दोनों में क्या क्या बातें हुईं, पहली रात उनकी किस जगह कटी, आगे चलकर पुलिस की आँख मे उन्होने किस तरह धूल डाली, और इसी तरह की और भी बहुत बातें है, जिन्हें मैंने अच्छी तरह जान लिया है। वह नारी उस पुरुष का अपहरण पूर्णतया कर चुकी है। जो लोग पुरुष के द्वारा नारी के अपहरण की बात पढ़ते रहते हैं, वे शंका करेंगे। पर वास्तव मे बात वैसी है नहीं। पुरुषों के द्वारा नारी का अपहरण असाधारण होने से ही पत्रों में उस तरह प्रकाशित किया जाता है !

अपहरण !—यही मेरे नये ग्रन्थ का नाम होगा। पर यह बाद मे सोचा जायगा। इस समय तो मैं यह देख रहा हूँ कि ये दोनो किसी दूर के शहर में जाकर, एक नये घर में टिक चुके हैं। काशीराम दिन में जब काम की खोज में बाहर चला जाता है, तब डेरे में बैठी बैठी पतिया आसपास के क़िरायेदारों

मे अपनी मधुर मुसकराहट मे घनिष्ठता का भाव उत्पन्न करती है। यहाँ ईंट-चूने के साथ जूझते हुए भी ये कितने आगे निकल चुके हैं, इसे स्वयं तक नहीं जानते !

और आज सचमुच वह छत सूनी पड़ी है। यहाँ कई दिन पहले जो शून्यता मैंने देखली थी, उसे दूसरे लोग आज देखते हैं। काशीराम और पतिया काम पर नहीं आये। कई दिन इस तरह निकल जाते हैं, किन्तु वे दिखाई नहीं पड़ते। अचानक उस छत का काम रुक गया है, यह दूसरे लोग भी देख रहे हैं। वहाँ छत का काम रुका है, परन्तु मेरे निर्माण मे कोई बाधा नहीं पड़ी। उसमें तेजी हो आई है।

× × × ×

आज हजारीलाल के पास चला गया था। मैंने पूछा—तुम्हारे काशीराम और रधिया का क्या हाल है ?

बोले—पता नहीं। कई दिन से काम बन्द है।

मैंने मुसकराकर कहा—वही तो। कई दिन से छत सूनी दिखाई पड़ती है।

हजारीलाल कहने लगे—हाँ, तुम उस ऊपर वाले कमरे में बैठते हो। एक दिन अपनी छत पर से जान पड़ा था कि तुम होगे। कहो, आज कल क्या लिखा जा रहा है ? इधर तुम्हारी तारीफ बहुत सुनी है।

मैंने कहा—'तारीफ सुनी है'—यह मेरे लिए तो तारीफ नहीं हुई। इतने निकट से उसे तुम देख नहीं सके, उसे

तुमने सुना भर है!

हजारीलाल ने कुछ लज्जित होने का भाव दिखाया। कहने लगे—हाँ, भाई तुम्हारी किसी चीज को अभी तक पढ़ा तो नहीं है। क्या करूँ, काम-काज के मारे फुर्सत नहीं मिलती।

"फुर्सत नहीं मिलती, फिर भी दूकान पर तुम्हारे यहाँ घन्टों पौ-बारह की धूम रहती है। तुम्हें बधाई!"

"बात यह है कि खेलने से जी हरा रहता है। और यह भी कि तुम जैसे बड़े लेखकों की बातें हम जैसों की समझ में नहीं आतीं।"

"किस बड़े लेखक की चीज तुमने पढ़ी थी, मै भी तो सुनूँ।"

जान पड़ा, हजारीलाल जैसे अब तक अपना गला ही गरम कर रहे थे। अब कोई बात वे सुनायँगे। बोले—यों ही उनकी एक पुस्तक हाथ आ गई थी। पुस्तक का विज्ञापन अखबारों में इतने मोटे अक्षरों में हो रहा था, जैसे कही महायुद्ध छिड़ा हो। सब पढ़े-लिखे लोगों में उसीकी चर्चा। सो ऐसे ही ऐसे में एक मित्र के कमरे में वह दिखाई दे गई। मैंने पढ़ने के लिए उसे चाहा, तो मित्र की तो यह हालत, जैसे मैं उनकी हवेली लूट लूँगा। हिम्मत के साथ उनका सामना करके किसी तरह पुस्तक उठा ही लाया। परन्तु जाने दूँ। प्रशंसा करूँ तो वाह वाह और निन्दा करूँ तो वाह वाह! लेखक की भलाई दोनों बातों में है। 'भाव कुभाव अनख आलस हूँ'—

सभी ओर से मंगल ही मंगल ।

मैने पूछा—पुस्तक का नाम तो बताओ, यदि लेखक का नाम तक नहीं लेना चाहते ।

कहने लगे—गुरु का नाम लेने की मनाई है । उस पुस्तक से बहुत बड़ी शिक्षा ले चुका हूँ, इसलिए किसी तरह उसका नाम नहीं लूँगा । और नाम तो एक झूठी या बनावटी बात है । भूकम्प का, उल्कापात का, अग्निकाण्ड का आंज तक किसीने नाम-करण किया है ? वह भूकम्प है, वह उल्कापात है, वह अग्निकाण्ड है, वह पुस्तक है,—केवल इतना कह देने से काम निकल जाता है ।

कुछ ठहरकर हँसते हुए ही वह कहने लगे—पुस्तक के सम्बन्ध मे प्रारम्भ मे ही लेखक ने प्रतिज्ञा की थी—मै सत्य का यथार्थ और नग्न निदर्शन करूँगा !—मेरी उत्सुकता बढ़ गई । पढ़ने वाले को इसके अतिरिक्त और चाहिए क्या ? उस दिन अपने खिलाड़ी साथियो को भी निराश करके मुझे लौटा देना पड़ा । पुस्तक लेकर पढ़ने बैठा, तो प्रारम्भ में ही माथा ठनका । देखा,—यह किन शोहदो के बीच में जा पहुँचा हूँ । एक कोई मायाविनी है, सब उसीके आस-पास चक्कर काट रहे हैं । लेखक की उन्हीं बातों मे रुचि, उन्हीं बातों में उसका आनन्द, और उन्ही बातो मे उसका रस । सत्य और यथार्थ का तो वह द्रष्टा ही ठहरा ! वर्णान्धता की बात डाक्टरो के मुँह से सुनी थी, परन्तु गुणान्धता का पता उसी बार चला । कुत्सित, कुरूप और घृण्य के प्रति ही लेखक का आकर्षण दिखाई

दिया। शराब के भद्र दलाल देखे हैं, परन्तु किताब भी वैसी ही, वरन् उससे हजार गूनो बुरी, दलाली इस युग मे करने चलेगी, यह उसी दिन मालूम हुआ। थोड़ी देर तक ही पुस्तक हाथ में रह सकी। जब सहन करना पूर्णतया असम्भव हो उठा, तब वही से नीचे के नाबदान में उसे छोड दिया। जहाॅ की चीज थी, वहीं पहुॅच गई। परन्तु क्या कहूॅ, इसी बात को लेकर उसी दिन से मेरे उन मित्र महोदय ने मुझसे बोलना तक बन्द कर रक्खा है। बताइए, इसमे मेरा क्या दोष। तभी से किसी पुस्तक को छूते हुए डरता हूॅ। इसीका फल है, जो आज तुम्हारे सामने लज्जित होना पड़ा कि तुम्हारी भी कोई चीज अब तक मैंने नही देखी।

गुस्सा होकर ही घर लौटा। जान पड़ा कि मेरे नये ग्रन्थ की पूर्वालोचना करने के लिए ही हजारीलाल ने यह किस्सा गढ़ा है। उत्तर देने के लिए अब कितनी ही बातें मेरे मन मे टूट पड़ी हैं। उन्हें ओज से, अलंकार के अस्त्रो से, सजाकर मैंने पक्तिबद्ध किया। परन्तु सामने प्रतिद्वन्द्वी न होने से आग-लगी अकेली लकड़ी की भाॅति अपने आप दग्ध होकर शान्त हो जाना पड़ा है। अन्त में यही निश्चय रहा कि हजारीलाल की खबर अपने नये ग्रन्थ में लेनी पड़ेगी। यही नाम ज्यो का त्यो रखकर।

हजारीलाल कहाॅ? आकर्षण तो उस मायाविनी के प्रति है। उस दूर के शहर में उस नये मकान के बीच जहाॅ वे दोनो आज-कल टिके हैं, वहाॅ इस समय एक भयंकर काण्ड होने

जा रहा है। काशीराम खटिया पर लेटा हुआ है। चारो ओर रात का सन्नाटा। कमरे मे काशीराम के घुरकने की आवाज को छोड़कर जैसे और कोई पदार्थ जोवित नहीं। मिट्टी के दिये की लौ तक निष्पन्द है। इसी समय पतिया के हाथ में अचानक एक छुरी चमक उठती है। उस चमक मे जैसे छुरो का भीषण भय काँप गया हो। और इसके वाद ही एक चीत्कार, रक्त की एक धारा, थोड़ी देर के लिए तड़फड़ाहट और फिर सब कुछ सदा के लिए शान्त। अब उस राक्षसी का कहीं पता तक नहीं, वह अपने नये प्रेमी के साथ सुरक्षित है।

सब कुछ स्पष्ट हो चुका है। अब वदला न जायगा, रचना का नाम होगा—'राक्षसी'। हजारीलाल को छोड़ दिया जाय, तो भी हानि नही। पर इस समय कुछ लिखा नहीं जा रहा है। एक बात लिखने बैठता हूँ, और दस बातें दिमाग में कोलाहल करती हैं। किसे कहाँ जगह दूँ, समझ मे नहीं आता। अभी कुछ ठहरने की आवश्यकता है। विचारो के इस उफान में कितना कुछ उफनकर नीचे को आग में गिरा जा रहा है। गिरा जा रहा है, तो गिर जाने दो। इसके बाद भो पात्र में इतना बचेगा कि उससे 'राक्षसी' मे किसी तरह की कमी न पड़ेगी।

× × × ×

इधर कई दिन से हजारीलाल के साथ बहुत मिलना-जुलना हो रहा है। वह बुरा हो सकता है; परन्तु उस बुराई से भी कुछ न कुछ मिलेगा ही। इस खाद से लेखक की उर्वराशक्ति बढ़ेगी।

आज बहुत दिनों बाद हजारीलाल के यहाँ काशीराम दिखाई पड़ा। अवस्था उसकी बहुत अच्छी न थी। शरीर का जैसे सारा रक्त निकल गया हो। चेहरा सूखा हुआ, दुबला दुबला, बरसो के रोगी की तरह। स्वीकार करना पड़ेगा, उसे देखकर, दया जैसी ही किसी वस्तु का अनुभव हुआ।

मुझे देखकर हजारीलाल ने कहा—लो, ये आ गये। इनकी सलाह लो।

"बात क्या है ?"—मैंने पूछा।

काशीराम चुपचाप किसी विचार मे डूबा रहा, उसके कान तक मेरी बात पहुँच नहीं सकी। आँखों में उसके पागलपन जैसी चमक थी। मैंने फिर पूछा—बात क्या है ? अब की बार उसने मेरी ओर देखकर हाथ जोड़े। बोला—बात कुछ नहीं है, जो कुछ होना है, हो जायगा। मैं उसका गला घोंट दूँगा।

"गला किस लिए घोटोगे ? क्या उसने तुम्हारी गर्दन पर छुरी फेर दी थी, जो इस तरह बदला लोगे ?"

"गर्दन पर ? गर्दन पर नहीं, कलेजे पर। मैं इसका मजा चखा दूँगा।"

"बिगड़ो मत, समझदारी की बात करो। किसलिए उसे मजा चखाओगे ? तुमने भी तो कोई बुराई उसकी की होगी।"

काशीराम ने हजारीलाल की ओर मुड़कर कहा—सुना मालिक ? कहते है, मैंने उसकी बुराई की होगी। बुराई करनी होती तो उसे उसी दिन सात साल चक्की पीसने के लिए भिजवा देता।

वह तो जानवर है, इसीसे नेकी की बात इतने जल्द भूल गया है।

मैं सँभला। यह स्त्री का मामला नहीं, कोई दूसरी बात है। मैंने कहा—इस तरह बात समझ में नहीं आती। खुलासा सब हाल कहो। अगर कोई जानवर है, तो उसके साथ वैसा ही वर्ताव किया जायगा।

इसी तरह कुछ और दिलासा दिये जाने पर सँभल कर उसने कहना प्रारम्भ किया—पिछले जेठ की ही तो बात है। उस दिन वहाँ का एक आदमी आकर कह गया, रधिया को उसके घरवाले ने दो दिन से अपने घर में ताला लगाकर बन्द कर रक्खा है। खाने-पीने तक को उसे नही दिया। यह कैसी बात! मेरा जी घबराया। उसी समय हाथ का कौर थाली में पटककर मैं उस गाँव के लिए चल पड़ा। जब वहाँ पहुँचा, रात के आठ-नौ का समय होगा। सुनी हुई बात सब सच निकली। गिरधारी शराब पिये औंधे मुँह पड़ा था। उस कोठरी तक पहुँचने में रुकावट नहीं हुई, जहाँ रधिया ताले में बन्द थी। ताला ऐसा था कि विना चाबी के खोलने में कठिनाई नही हुई। हाथ पकड़कर कोठरी के भीतर से उसे निकाला। पूछा—यह क्या हाल है री तेरा? बोली—"पहले दो घूँट पानी। प्यास के मारे गला सूखा जाता है।" गिरधारी पर ऐसा गुस्सा आया कि अभी इसका गला घोट दूँ। एक लोटा पानी भरकर दिया, तो रधिया गटगट करके उसी दम उसे पूरा का पूरा पी गई। बाद में मालूम हुआ कि गिरधारी ने किसीको चोरी की

थी। रधिया ने रोका कि यह अच्छी बात नहीं। बस इसी बात को लेकर झगड़े की गाँठ दोनो में पड़ गई। दूसरे-तीसरे दिन ही यह बहाना लेकर उस कसाई ने रधिया को बन्द कर दिया कि तुझे रोटी करनी नहीं आती। मैंने कहा—मैं थाने में खबर करता हूँ, चोरी का माल अभी घर में होगा; तभी लालाजी के होश ठिकाने होगे। रधिया मेरे पैरो पड़ गई—"ना-ना, ऐसा न करो; ऐसा जानती तो तुमसे न कहती।" वह तो रोने-चिल्लाने लगी। मैंने कहा—मर अभागी, इसी तरह मर! अब कहो, यह मैंने उसको बुराई की, जो उसी दिन उसे जेल नहीं भिजवाया?—तब फिर उसी रात रधिया को मै वहाॅ से भगा लाया। भगा न लाता, तो उसकी जान न बचती।

मैंने कहा—दूसरे की ब्याहता को भगा लाना, जानते हो, कानून से कितना बड़ा अपराध है?

"जानता हूँ, सब जानता हूँ। कानून तो यही कहता है कि गाय की गर्दन कट जाने दो, कुछ बोलो मत। मैं ऐसे किसी कानून को नही मानता।"

थोड़ी देर मे काशीराम शान्त हुआ। रधिया का नाम लेते ही, जान पड़ता था, उसके वचनों में चन्दन का लेप होता हो। कहने लगा—घर लाकर मैंने रधिया से कहा—देख री, अब मै तुझे वहाॅ जाने न दूँगा। वहाँ गई तो जीती न बचेगी। इसी घर में रूखा-सूखा पाकर मालकिन की तरह रह। यहाँ आकर वह झॉकेगा, तो उसके दाँत तोड़ दूँगा। बोली—"अब

वहाँ जाऊँगी ? मैं ऐसी नहीं हूँ।" मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। किसी बात की कमी न थी। मालिक का काम करते थे, और पैर पसार कर रात को सुख की नींद लेते थे। किसी बात का कोई खटका न था। बीच में एकाध वार गिरधारी दिखाई दिया, पर मेरे डंडे को देखकर उसकी हिम्मत नहीं हुई कि कुछ कहे। रधिया कितनी सीधी है, यह तो तुम जानते ही हो मालिक। पर उस दिन मैंने सुना कि गिरधारी को उसने भी ऐसा फटकारा कि जिसका नाम। जिस दिन रधिया को लाया था, उस दिन उसकी हालत थी, जैसे महीने भर की लंघनें कर चुकी हो। यहाँ थोड़े ही दिनो मे वह फूल-सी खिलने लगी। मैंने सोचा कि अब कुछ ऐसा करना चाहिए, जिसमे आगे किसी तरह का खटका न रहे। इसी बीच मे वहाँ के किसी आदमी ने आकर सुनाया कि गिरधारी बीमार है। सुनकर रधिया का चेहरा फीका पड़ गया। पूछने लगी—कैसी बीमारी है ? मैंने कहा—होगी किसी तरह की, तू तो अपना काम देख। वह चुप रह गई। दूसरे-तीसरे दिन फिर वही खबर। गिरधारी को लंघनें हो रही है ! लंघनें हो रही है, तो अब तक मरा क्यो नहीं ? रधिया एक जगह अकेली बैठकर रो रही थी। मैंने फटकारा। कहा—रोती क्यो है ? वैसे आदमी को ऐसी ही सजा मिलनी चाहिए। वह तो एकदम बदल गई। कहने लगी—"कोई बुरी बात मुँह से निकालोगे, तो अपना सिर फोड़ लूँगी !" मैं सन्नाटे में आ गया। स्त्री की जाति कैसी नमकहराम होती है ! वह

तो दो दिन में ही मुरझाने लगी । बोली—मैं जाऊँगी । मैंने रोका—वहाँ जाकर मेरी नाक कटायगी क्या ? वहाँ जाने का नाम लिया, तो याद रखना,—हाँ ! उसी दिन वह किसीसे कुछ कहे-सुने विना घर से निकल गई । उस समय मै कहीं गया हुआ था । लौट कर मैंने कहा—जाने दो, पिंड छूटा। पर क्या कहूँ मालिक, उसके बाद ही मेरी आँखो मे आँसू आ गये। घर ऐसा लगने लगा, जैसे काट खायगा। उस अभागी ने मेरी बात न रक्खी । सोचा, अब की वार उसे वहाँ अच्छी सिखापन मिले । सो वही बात हुई मालिक, वही बात हुई। राम रे, मैंने अपने आप उसका बुरा चेता !

काशीराम की आँखों में आँसू झरने लगे। कुछ सँभल कर फिर उसने कहा—मै तो समझता ही था। कि बीमारी की बात बहाने की है। वही निकला। वह भला-चङ्गा शराब पीता था और आनन्द करता था। बेचारी छल ही छल में वहाँ फँस गई। अब कल की ही बात है, उन दोनो में फिर कोई बात हुई। वैसी ही कुछ चोरी-चपाटी की होगी। सो उसने रधिया को इस वार इतना पीटा कि उसका हाथ टूट गया है। अस्पताल पहुँच गई है। मैं खुद जाकर देख आया हूँ। डाक्टर साहब कहते हैं कि मै दस रुपये लाऊँ, तो वे ऐसी दवा मँगा देंगे, जिससे हाथ की हड्डी जुड़ जाय । सो भी पूरा विश्वास उन्हें नहीं है। पीटा उस हत्यारे ने, हड्डी तोड़ी उस हत्यारे ने और दण्ड भरूँ मैं ! दस रुपये। मैं ऐसा नासमझ नहीं हूँ। मेरे पास

रुपये क्या पैसे तक तो है नहीं। जब गिरधारी का गला घोंट दूँगा, तभी मुझे चैन मिलेगा।

काशीराम के चेहरे पर गहरी पीड़ा के लक्षण दिखाई दिये। जैसे उसका शरीर ऐंठने लगा हो। दायाँ हाथ बायें पर रखकर एक स्थान बताते हुए रोती हुई बोली में उसने कहा—हत्यारे ने बेचारी का हाथ तोड़ दिया है, हाथ!

दुखी होकर मैंने समझाया—दूसरे की ब्याहता को तुम्हें भी तो उस तरह भगा लाना ठीक न था।

"ठीक था मालिक, एक दम ठीक था। गिरधारी की ब्याहता है, तो मेरी भी वह सगी बहन है। उसे कैसे उस कसाई के हाथ में रहने देता? हाथ तोड़ डाला, इससे तो मार ही डालता तो अच्छा था। अभागी अब काम कैसे करेगी?

"रधिया तुम्हारी बहन है!" मेरी आँखों मे भी आँसू थे।

× × × ×

घर आकर पहला काम यह किया कि अपनी 'राक्षसी' के प्रारम्भिक पृष्ठ फाड़कर नाबदान में छोड़े, हाँ नाबदान में ही,—और तैयार होकर तुरन्त निकल पड़ा। देखूँ अस्पताल में रधिया की कुछ सहायता कर सकता हूँ कि नहीं।

मार्गशीर्ष शुक्ल ४–१९९६